ललता

श्री भागवत दर्शन

भागवती कथा

खण्ड ६७

[उपनिषद् अर्थ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता।
प्रणीतं प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

प्रकाशक
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
(झूसी) प्रयाग

संस्करण 1000 | जुलाई १९७२ कार्तिक सं०–२०२९ | मूल्य : २.५०

मुद्रक—बंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग।

विषय-सूची

संस्मरण

[१६]

(काशीजी का साधन आश्रम)

●

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २८ अ० २ श्लो०)

छप्पय

सब स्वभाव तै विवश करैं करमनि स्वभाव वश ।
करनो हू नहिँ चहैं प्रकृति करवावै पर-वश ॥
जब करिबे में अवश दोष फिरि काकूँ देवैं ।
हैं प्रारब्ध अधीन विवश करमनि कूँ सेवैं ॥
तातैं साधै मौन व्रत, भलौ बुरौ कछु नहिँ कहै ।
लिखिबो जाको व्यसन यह, बिना कहे कैसे रहै ?

यह जीव स्वभाव से–प्रकृति से–प्रारब्ध कर्मों से–विवश है। जिसकी जैसी प्रकृति है, वह उससे विवश होकर कर्म करता है। मरते समय जीव के साथ जैसी उसने अच्छी बुरी विद्या पढी

---

* दूसरों के स्वभाव की या उनके कर्मों की जो कोई प्रशंसा करता है या निन्दा करता है, वह शीघ्र ही यथार्थ स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि जो असत्य वस्तु है उसमें अभिनिवेश करना उचित नहीं।

हो, जैसे अच्छे बुरे कर्म किये हों उनके संस्कार तथा जन्मानुभूत विषयों की वासना-पूर्व प्रज्ञा-ये तीन वस्तुएँ उसके साथ साथ जाती हैं। पूर्वजन्मों में जो कुछ उसने किया हैं, उसके संस्कार बने रहते हैं, उन संस्कारों के अनुसार ही वह दूसरा जन्म लेते ही कर्म करने लगता है। जिसके चोरी करने के पूर्वजन्म के संस्कार हैं, वह इस जन्म में भी चोरी ही करेगा। एक सम्राट् था उसके चोरी करने के संस्कार थे। वह दुकानों पर जाता, जो वस्तु अच्छी लगती व्यापारी की आँख बचाकर चुरा लाता। राज्य की ओर से सभी लोगों को-मन्त्रियों ने-आदेश दे रखा था, सम्राट् जिसकी जो वस्तु उठा लावे, वह उनसे कुछ भी न कहे। वह अपनी वस्तु का मूल्य राज्य परिषद् में लिख भेजे, यहाँ से उसका मूल्य दे दिया जायगा। इसलिये जब सम्राट किसी की दुकान पर जाता, व्यापारी मुँह फेर लेते या किसी कार्य से भीतर चले जाते सम्राट् उस वस्तु को चुपके से छिपा लेते। वे समझते व्यापारी ने मुझे चुराते हुए देखा नहीं। इसी प्रकार पूर्वजन्मों के संस्कारानुसार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं और पूर्वजन्मों के संस्कारवश छुड़ाने पर भी वे नहीं छूटते।

मन्दोदरी ने रावण को समझाते हुए कहा था—"देखो, प्राणनाथ! आपको स्त्रियों की कमी नहीं। देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, विद्याधरों की सुन्दर से सुन्दर सहस्रों स्त्रियाँ आपके राजमहल में हैं। आप सीताजी के लिये इतना हठ क्यों कर रहे हैं? श्रीरामचन्द्रजी का बल अमित है। वे साधारण मनुष्य नहीं। मनुष्यों से न करने योग्य कृत्य उन्होंने किया है। सौ योजन समुद्र पर पुल बनाकर वे अपनी सेना के साथ इस पार लंका में आ गये हैं। आप उनसे व्यर्थ लड़ाई क्यों करना चाहते

हैं। आप जाकर सीताजी को उन्हें लौटा दें। इतने से ही सन्तुष्ट होकर वे लौट जायँगे। दोनों ओर के सैनिकों का संहार न होगा।"

रावण ने कहा—"यह तो राम के प्रति आत्मसमर्पण हुआ। उनके आगे नतमस्तक होना हुआ।"

मन्दोदरी ने कहा—"यदि आप कलह को शान्त करने के लिये तनिक नत्र ही गये, तो आपका क्या बिगड जायगा ?"

रावण ने कहा—'यह मेरे स्वभाव के प्रतिकूल है। मेरी प्रकृति के विरुद्ध है। मैं सूखी लकडी की भाँति बीच से टूट भले ही जाऊँ, किन्तु किसी के आगे नवना तो मैंने सीखा ही नहीं।"

मन्दोदरी ने कहा—"आप तो व्यर्थ में हठ करते हैं। आप राम के पराक्रम को जानते नहीं ? सीता के सतीत्व से प्रतीत होता है आप अपरिचित हैं, तभी तो ऐसी बातें कह रहे हैं। आप युद्ध का परिणाम नहीं देखते ?"

रावण ने कहा—"राम को मैं भलीभाँति जानता हूँ, इतना जानता हूँ, जितना तू भी न जानती होगी। राम रघुवंश नाथ साक्षात् विष्णु हैं। सीता से भी मैं परिचित हूँ, वह जनकनन्दिनी साक्षात् लक्ष्मी है। युद्ध का परिणाम भी मैं जानता हूँ, मेरी श्रीराम के ही हाथ मृत्यु होगी। इतना सब जानते हुए भी मैं सीता को कदापि नहीं लौटाऊँगा। राम के सम्मुख कभी नत-मस्तक नहीं हूँगा।"

मन्दोदरी कहा—"जब आप सब जानते हैं युद्ध के परिणाम से भी आप परिचित हैं, तो फिर सीता को न लौटाने का इतना आग्रह क्यों कर रहे हैं ?"

रावण ने कहा—"यह मेरे स्वभाव का दोष है। किसी के आगे नतमस्तक होना मेरे स्वभाव के विरुद्ध है।"

मन्दोदरी ने कहा—"बुरे स्वभाव को तो बदलना चाहिये।"
रावण ने हँसकर कहा—"स्वाभव बदला नहीं जा सकता (स्वभावो दुरतिक्रमः)।

ऐसी ही बात श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् ने अर्जुन से कही थी—'देखो, अर्जुन! तुम चाहे ऐं करो, चाहे चें करो। युद्ध तुम्हें करना ही पड़ेगा। कौरवों से तुम्हें लड़ना ही पड़ेगा।"

अर्जुन ने कहा—"जब मैं भीख माँगकर जीवन निर्वाह करने को उद्यत हूँ, तो भी लड़ना क्यों पड़ेगा? मैं नहीं लड़ता, मेरी इच्छा।"

भगवान् ने कहा—"तेरी इच्छा से ही सब काम थोड़े ही होते हैं। पूर्वजन्मों के संस्कार प्राणियों को विवश करके इच्छा न रहने पर भी कार्य करा ही लेते हैं। यदि तू अहंकार के वशीभूत होकर ऐसा मान बैठे कि "मैं लड़ूँगा ही नहीं।" तो यह तेरा मिथ्या व्यापार है। भैया! तेरी प्रकृति तुझे बलात् युद्ध में प्रेरित करेगी। विवशता की बात दूसरी है स्वेच्छा से तू जीवन भर भिक्षा पर निर्वाह करके नहीं रह सकता। (प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति)

अर्जुन ने कहा—"कर्म करने में माधव! मैं स्वतन्त्र हूँ, जब मैं अस्त्र-शस्त्र लेकर लड़ूँगा ही नहीं तब कोई मुझे बलपूर्वक युद्ध में कैसे ले जा सकता है?"

भगवान् ने कहा—"हाँ, एक ऐसा है, जो तेरी इच्छा न रहने पर भी तुझे बलपूर्वक युद्ध में ले जायगा और तुझसे युद्ध करा कर ही छोड़ेगा।"

अर्जुन ने कहा—ऐसा मुझसे भी बलवान् कौन व्यक्ति है?"

भगवान् ने कहा—"वह है, तेरा स्वभावजन्य प्रारब्ध कर्म। देख, भैया! तू ही नहीं समस्त प्राणी स्वभावजन्य प्रारब्ध कर्मों से बंधे हुए हैं। यदि तू मोह के वशीभूत होकर-अहंकार

वश–युद्ध करना भी नहीं चाहे, तो भी तुझे पूर्वजन्म के स्वभावानुसार विवश होकर युद्ध करना ही पडेगा। (करिष्यस्यवशोऽपितत्)।

इन सब उद्धरणों से यही सिद्ध होता है, कि मनुष्यों को दोष देना व्यर्थ है, सभी अपने स्वभाव के अनुसार–प्रारब्ध कर्मों के अनुसार–कर्म करने मे विवश हैं। चोर विवश होकर चोरी करता है, न्यायाधीश विवश होकर उसे दण्ड देता है। चोरी करना बुरा है इसे शास्त्र विवश होकर कहता है। अब बताइये दोष किसे दें? सभी तो विवश होकर कर्म कर रहे हैं। फिर हे लेखक महाशय! तुम व्यर्थ में सफेद कागदों को काले क्यों करते रहते हो? उसने ऐसा किया, वह ऐसा था, उसे ऐसा नहीं करना चाहिये था, तुम इन बातों को क्यों लिखा करते हो? तो भैया! इसका उत्तर यही है कि हम भी तो अपने स्वभाव से विवश हैं। विवश न होते तो भगवान् व्यास इतना बडा पोथा महाभारत क्यों लिखते? सब लोगों के कर्मों की आलोचना क्यों करते? यहाँ तक कि अपने पिताजी को भी नहीं छोड़ा, अपनी उत्पत्ति भी ज्यों की त्यों बता दी और अपने को कानीन (कन्या से उत्पन्न) भी बता दिया। इसलिये कि लेखक सत्य बात कहने को विवश है। इसलिये सबकी विवशता समझकर किसी के कर्मों की निन्दा नहीं करनी चाहिये। किन्तु करें क्या निन्दक भी विवश होकर ही निन्दा करता है, उस पर निन्दा किये बिना रहा नहीं जाता। किन्तु निन्दक निन्दित है और सत्य बात कहने वाला स्पष्टवादी है। स्पष्टवक्ता न निंदकः)

काशीजी के औरंगाबाद मुहल्ले के पीछे से एक छोटा सा कच्चा मार्ग जाता था। वह मार्ग सीधा काशी विद्या पीठ को चला जाता था। उसी मार्ग में एक बडा सुन्दर बगीचा और

उसमें बहुत ऊँचे पर एक भव्य कोठी थी। कभी उस मुहल्ले के एक धनिक सेठ का वह आमोद-प्रमोद भवन था, उसमें नृत्य गीतादि होते थे। उनके वंशवालों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त ही शोचनीय हो गयी। उन्होंने गुप्तरीति से कुछ मासिक भाड़े पर उसे हमें दे दिया। उसके सम्मुख एक तालाब था, मीठे पानी का सुन्दर कूआ था। बडा विस्तृत बगीचा था। हमारे लिये वह स्थान नगर से बाहर खुली वायु मे ही उपयुक्त था। मुझे भारत धर्म महामंडल से स्यात् ३० या ४० रुपये मासिक मिलते थे। उसी में हम ५,६ आदमी निर्वाह करते। दिन में एक बार तो साधारण रोटी दाल या रोटी साग बन जाता। रात्रि में चना आदि से जल पीकर रह जाते।

हृदय में बड़ी-बड़ी भावनायें थीं। पूरे देश का उद्धार करने की कल्पना की थी। सोचा था जितने मिल सकें उतने आजीवन ब्रह्मचारी तैयार किये जायँ, जो देश के लिये, धर्म के लिये अपना सर्वस्व त्याग कर देश सेवा में ही लग जायँ। उसी भावना से बहुत छोटे रूप में उस आश्रम का सूत्रपात किया था। मिथिला से एक बड़ा उत्साही निरन्जन नाम का युवक आ गया। उसे रख लिया। पं० रामनारायण जी मिश्र उन दिनों हिन्दु महा-विद्यालय के प्रधानाचार्य थे। वे हमसे अत्यन्त स्नेह रखते थे। उनसे कहकर उसे उनके यहाँ प्रविष्ट करा दिया। फिर क्रमशः उत्साही युवक आने लगे। इन्द्रजी, गोविन्दजी, चन्द्रजी, रामजी और भी कई आ गये। इनके नाम कुछ और थे मैंने ही इनके ये नाम रख दिये थे। हमारे आश्रम की तीन या चार प्रतिज्ञायें थीं। उन पर हम रक्त से हस्ताक्षर कराते थे। (१) जीवन भर ब्रह्मचारी रहेंगे। (२) सदा देश की सेवा में ही लगे रहेंगे। (३) अपने लिये कुछ भी संग्रह न करेंगे। एक इसी प्रकार की कोई

और भी प्रतिज्ञा थी। अपने आप अपने शरीर के किसी अंग को काटकर उसके रक्त से हस्ताक्षर करने होते थे। आश्रम से एक हस्तलिखित साप्ताहिक या पाक्षिक पत्र भी निकालते थे। कभी कभी बड़े बड़े लोगों को भी आश्रम में बुलाते थे। विद्यापीठ के तो प्रायः सभी प्राध्यापक तथा नगर में रहनेवाले विद्यार्थी वहाँ नित्य ही आते रहते थे, उनके जाने आने का मार्ग ही हमारी कोठी के नीचे से था। प० रामनारायण जी मिश्र, प० अयोध्या प्रसाद जी उपाध्याय 'हरिऔध' महामंडल के स्वामी दयानन्द जी, तथा नगर के कांग्रेसी कार्यकर्ता वहाँ आते जाते थे। सबका स्वागत हम भिगोये हुए चनों से करते थे और हमारे पास था ही क्या ? काशी के प्रायः सभी क्रांन्तिकारी युवक भी वहाँ आते जाते थे। वे चाहते थे, मैं क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो जाऊँ। किन्तु किसी भी सभा समिति का सदस्य न बनने की मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, इसलिये मैं आज तक किसी भी सभा का सविधि सदस्य नहीं बना। एक बार भूल से कहिये या पौने दो रुपये बचाने के लोभ से कांग्रेस का तो सदस्य हो गया था।

बात यह थी, कि हमारे एक अत्यन्त ही हितैषी मित्र थे। एक सराय के व्यवस्थापक थे। काशीजी मे उत्तर प्रदेश भर (उस समय संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध) का राजनैतिक सम्मेलन हुआ। हमारे बन्धु ने कहा—"उसमे एक भोजनालय खोला जाय, रुपये मैं लगाऊँगा। जो आय हो वह आधी आपकी आधी हमारी। ४ या ५ दिन का सम्मेलन था। अपने लोगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय थी। आय का कोई दूसरा मार्ग नहीं। मुझे भी लोभ आ गया। जीवन में सबसे पहिला और सबसे अंतिम यह व्यवसाय था। दो तीन रसौये डेढ़-डेढ़ या दो-

दो रुपये नित्य के इकट्ठे किये। ठाकुर त्रिभुवन नारायण सिंहजी जो उस समय विद्यापीठ के छात्र थे। हमसे बड़ा स्नेह रखते थे। उनके घर मे मेज कुर्सियाँ ले आये। एक पवित्र भोजनालय खोला। विज्ञापन छपाये। सुन्दर पवित्र भोजन बनवाये। अपने सब परिचित ही थे। चलो, ब्रह्मचारीजी का भोजनालय है। यहीं भोजन करें। दूर-दूर के लोग आते, आनन्द से भोजन करते। ब्रह्मचारी जी तो अपने घर के ही हैं देना लेना क्या। भोजन किया कुल्ला करके हाथ पोछकर चल दिये। अब उनसे कैसे कहा जाय पैसे दे जाओ। इसलिये जो होना था वही हुआ। कई सौ का घाटा लगा। उसमें से मैंने जैसे तैसे कुछ रुपये चुकाये कुछ के लिये हाथ जोड दिये। चौबेजी गये थे छब्बे बनने किन्तु रह गये दूब्बे ही। विपत्ति के ऊपर विपत्ति। मैं बड़ा चिन्तित था। बाँदा जिले के एक अग्निहोत्री जी थे, लखनऊ जेल मे हमारे साथ थे। वे भी आये हुये थे। जब हमारे घाटे की बात उन्होंने सुनी तो बड़े प्रसन्न हुए, बहुत हँसे और बोले—"बहुत अच्छा हुआ, भगवान् ने तुम्हे शिक्षा दी, कि ऐसे व्यापारो मे आगे से कभी मत फँसना।" उस समय तो बुरा लगा किन्तु वह घाटा मेरे लिये वरदान हो गया। उससे जीवन मे बहुत शिक्षा मिली।

हाँ, तो उस समय सम्मेलन में प्रवेश शुल्क दो रुपये थी। किन्तु जो चार आने देकर कांग्रेस का सदस्य बन जाय, उससे प्रवेश शुल्क नहीं ली जाती थी। हमने सोचा—"चलो चार आने देकर ही प्रवेश पत्र ले लो। वैसे मेरे सभी परिचित ही थे। जिससे कहता वही निःशुल्क प्रवेश पत्र दे देता। किन्तु छोटी सी बात किसी से कहने मे मुझे अत्यन्त ही संकोच होता है। इस संकोच के कारण अनेकों बार मुझे भूखा रहना पड़ा

है। मैंने तो चार आने शुल्क ही समझकर दिये थे, किन्तु मेरा नाम सदस्यों में आ गया। जब बाबू भगवान् दास जी ने कांग्रेस की कार्यकारिणी परिषद् की सदस्यता से इसलिये त्याग पत्र दे दिया कि उनका चर्खा चलाने पर और विशुद्ध खादी पहिनने पर विश्वास नहीं तो उनके स्थान में मुझे कार्यकारिणी का सदस्य बना दिया गया। काशी कांग्रेस के मंत्री पं० शिवविनायक जी मिश्र थे। मेरे अत्यन्त ही स्नेही थे। काशी आकर बहुत दिनों तक उन्हीं के प्रेस में रहा था। प्रतीत होता है उन्होंने ही मेरे नाम का प्रस्ताव किया होगा। मैंने तुरन्त दैनिक 'आज' में एक पत्र छपवा कर इसका विरोध किया और अपनी अस्वीकृत प्रकट की। यह बात मिश्रजी को कुछ बुरी भी लगी। उन्होंने मुझसे कहा—"आपको स्वीकार नहीं था, तो मुझसे कह देते, मुझे त्याग पत्र देते। 'आज' में आपने क्यों छपाया ?"

इस प्रकार एक बार भूल से ही समझिये, भ्रम या लोभवश तो मैं कांग्रेस का सदस्य बना, नहीं तो मैं कभी किसी संस्था का आज तक सदस्य नहीं बना। हाँ, गोरक्षा अन्दोलन में लोगों ने मुझे अध्यक्ष अवश्य बना दिया, उसका तो मैंने जान बूझकर विरोध नहीं किया। परिस्थितियाँ ही ऐसी आ गयी थीं। मेरे इस क्षुद्र सहयोग से गौ माता की रक्षा हो जाय, तो नियम का अपवाद ही सही। किन्तु गौ माता की रक्षा तो हुई नहीं। उलटे कुछ लोगों के लिये ईर्ष्या का कारण बन गया।

उस समय के प्रायः सभी क्रान्तिकारी काशी में रहते थे और उनमें से अधिकांश से मेरा परिचय था। श्री चन्द्रशेखर जी 'आजाद' तो उन दिनों बहुत ही छोटे १३–१४ वर्ष के बच्चे थे। प० शिवविनायक मिश्रजी के गाँव (बीघापुर जि० उन्नाव) के पास के ही थे। उनके गाँव नाते से भतीजे लगते थे। उनके

यहाँ बहुधा आते थे। मेरी आँखों में तो उनकी वही छोटी-सी दुबली पतली चेचक के दागों वाली भोली भाली सूरत बसी हुई है। पीछे सुना वे बहुत मोटे हृष्ट पुष्ट लंबे तड़ंगे हो गये थे। अनेकों बार सुनते हैं मेरी कथा मंडप में भी आये किन्तु मैंने न उन्हें पहिचाना न उन्होंने अपना परिचय ही दिया। यद्यपि मैं उनका सविधि सदस्य नहीं बना किन्तु उन सब त्यागी विरागी परम देशभक्त बन्धुओं से मेरी हार्दिक सहानुभूति थी।

भारत धर्म महामंडल की मासिका पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' बहुत पुरानी पत्रिका थी। हमारे स्वामी ज्ञानानन्द जी की पहिले एक निगमागम मंडली थी उसका कार्यालय मथुरा में था। उसी की यह मासिक मुख पत्रिका थी और मथुरा से ही निकलती थी। जब निगमागम मंडली भारत धर्म महामंडल में विलीन हो गयी तब यह महामंडल की मुख पत्रिका बनी। इसके सम्पादकों में पं० अमृतलालजी चक्रवर्ती, पं० रूपनारायण जी पांडेय, पं० रामगोविन्द जी त्रिवेदी, पं० गोविन्द शास्त्रीजी दुगवेकर ऐसे ख्यातनामा विद्वान् रह चुके थे। मुझे तो दुगवेकर जी ने ही रखा था। स्वामी ज्ञानानन्द जी से तो मेरा परिचय ही नहीं था। कई महीनों तक मैंने उन्हें देखा भी नहीं। मैं पहिले समझता था भारत धर्म महामंडल सार्वजनिक संस्था है। पीछे शनैः-शनैः पता चला इसके कर्ता धर्ता भर्ता महर्ता सब स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज ही हैं। करने कराने वाले सब वे ही थे, किन्तु वे अपने नाम से न कराकर समिति की छाप लगाकर सब कुछ करते थे।

स्वामी ज्ञानानन्द जी बहुत ही बुद्धिमान, व्यवहार पटु, तथा कार्यकुशल दूरदर्शी, विधान विशारद थे। ऐसे आदमी जिस क्षेत्र में भी होते हैं, उसमें ही अपनी विशेषता दिखाते हैं।

जैसे मानसिंह जी थे। वे नामी डाकू थे। किन्तु इतने बुद्धिमान कार्य कुशल, प्रत्युत्पन्नमति तथा समय को देखकर कार्य करने वाले थे कि लगभग ४ -५० वर्षों तक वे सक्रिय रहे। अँगरेजों ने उन्हें पकड़ने के लिये एड़ी चोटी का पसीना एक कर दिया। सहस्रों सैनिक उनके पीछे लगा दिये किन्तु वे पकड़े नहीं गये। काग्रेस सरकार ने भी पूरी शक्ति लगा दी, वह भी उन्हें पकड नहीं सकी। वे अपने क्षेत्र के राजा थे। गो रक्षा के कार्य से जब मैंने पूरे प्रान्त का भ्रमण किया, तब शिकोहाबाद गया था। वहाँ के पुलिस के थानेदार की माता मेरे पास आकर बहुत रोयी। उसने बताया—"हमारे लडके की नियुक्ति इसी थाने में हुई है जहाँ मानसिंह है। जो उन्हें जाकर नियमानुसार भेंट नहीं करता, उनसे अभय प्राप्त नहीं करता उसे वे मार डालते हैं। हमने तीन दिन से कुछ खाया नहीं।"

ऐसा उसका आतंक था, मैंने सुना था बडे बडे पुलिस के अधिकारी भेंट लेकर उसके यहाँ जाते थे। दशहरे के दिन नियम पूर्वक उसकी राज्य सभा लगती थी। सब लोग उसे भेंट अर्पण करते थे। वास्तव में वह नाम का ही डाकू था। देवीजी का भक्त था। कई देवीजी के मन्दिर बनवाये। लाखों रुपये भंडारों मे व्यय किये। साधु महात्माओं में भक्ति रखते थे। मेरे यहाँ एक ग्वालियर का बडा लम्बा चौड़ा विद्यार्थी था। उसने बताया—"रात्रि में डाकू मुझे उठाकर मानसिंह के पास ले गये। वह माला लेकर जपकर रहा था। मुझे देखकर उठकर खड़ा हो गया और बोला—"पंडितजी! आप भयभीत न हों, मुझे भागवत सप्ताह सुनना है इसीलिये आपको बुलाया है। सात दिन तक हमें भागवत सुनाइये।"

उसने बताया—"चंबल के खारों में नीचे बड़ी ।

थी, उसी में वह रहता था। खाने पीने का अटूट सामान रखा था। सात दिन कथा सुनी, फिर अपने आदमियों से कहा—"पंडितजी को घर पहुँचा आओ। पुलिस ने चारों ओर घेरा डाल रखा है। वे इन्हें पकड लेंगे तो तङ्ग करेंगे। ऐसा कहकर १०१) रुपया मुझे भेंट किया और जैसे लाये थे वैसे ही पहुँचा गये।"

सैकडों अनाथ निर्धन कन्याओं का उसने विवाह कराया। कितने कन्यादान छाद्धक किये कितने धार्मिक कार्यों मे सहायता दी। एक दिन रात्रि के बारह बजे उनके लोगों ने मेरी मोटर रोक ली और मुझसे कहा—"गौरक्षा के लिये आपको जितने रुपयों की आवश्यकता हो, हमसे ले लीजिये।"

मैंने कहा—"हम डाकुओं के रुपयों से गौरक्षा नहीं करते।" ऐसा कहकर चले आये। उनका साहस तो देखिये एतमादपुर की भरी सभा में वे हमारे पास मच पर आकर बैठ गये, पुनः रुपया लेने की प्रार्थना की। इतना साहस साधारण आदमियों का हो सकता है?"

ऐसे ही एक नटवर लाल नामक ठग था, कितने लोगों को कैसे कैसे ठगा। उसके बुद्धि वैलक्षण पर आश्चर्य होता है। कितने बार वह पकडा गया और सबकी आँखों में धूलि झोंक कर निकल भागा। किन्तु यह सब बुद्धि का दुरुपयोग है। सदुपयोग तो यही है कि बुद्धि से परोपकार और परमार्थ के कार्य किये जायें, किन्तु लोग पूर्वजन्मों के संस्कारों से विवश हैं। हमने इस छोटे से जीवन में सभी क्षेत्रों के लोगों को देखा है। उनकी बुद्धि की विलक्षणता को देखकर आश्चर्य होता है।

हमारे ही एक सगे सम्बन्धी थे। एक अक्षर पढ़े लिखे नहीं थे। किन्तु हमारे एक भाई अध्यापक जब उन्हें कुछ दिन पाठ—

शाला सौंपकर बाहर चले गये तो ऊपर की कक्षा के लड़कों से नीचे की कक्षा वालों को पढवाकर पाठशाला का काम इतने सुचारु रूप से चलाया कि कोई प्रशिक्षित प्रधानाध्यापक क्या चलावेगा। बहुत से साधुओं को भी हमने देखा है जो पढे लिखे कुछ नहीं। आचरण भी उनके ऐसे ही सट्ट पट्ट हैं, किन्तु उनका बड़े बड़े लोगों में सम्मान है, सैकड़ों राजे महाराजे उनके शिष्य हैं। तो जैसे धन, अवस्था, विद्या ये भाग्य से मिलते हैं वैसे ही सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, गौरव ये भाग्य से मिला करते हैं। परमार्थ से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आध्यात्मिक शांति दूसरी वस्तु है। सम्पूर्ण जीवन में हमने यही तो अनुभव किया है। जिनके लाखों शिष्य हैं उन्हे भी आन्तरिक शान्ति नहीं, वे सदा अधिक से अधिक शिष्य बनाने को लालायित रहते हैं। जिनके विभिन्न स्थानों में अनेकों आश्रम हैं, वे और अधिक आश्रम बनाने को व्यग्र बने रहते हैं। जिनका लाखों नर नारी जय जयकार करते हुए स्वागत करते हैं वे और इससे भी बड़ा स्वागत चाहते हैं। जिनके बहुत से अनुयायी हैं। वे और अधिक बनाने को प्रयत्नशील रहते हैं। ये आत्मशान्ति में आध्यात्मिक उत्थान में सहायक नहीं होते। जिनके पास अधिक सम्पत्ति हो, अधिक अनुयायी हों, बहुत से शिष्य सेवक हों, बहुत सी संस्थाओं के संचालक संस्थापक हों, वे अध्यामिकता में भी बढे चढे होंगे, यह आवश्यक नहीं। कहना चाहिये ये सब तो अध्यात्ममार्ग में विघ्न हैं। किन्तु क्या किया जाय, पूर्वजन्म की वासनायें हठात् हमें इन कामों में नियुक्त करती हैं।

बहुत से लोग कहते हैं—"ब्रह्मचारीजी द्वारा देश का, धर्म का, समाज का तथा साहित्य का बडा उपकार हो रहा है। भागवती कथा की पुस्तकों से कितनों का जीवन सुधर

साहित्य की यह अमूल्य वस्तु है।" वास्तव मे देखा जाय, तो भागवती कथा मे क्या विशेषता है। वे ही शास्त्रों के वचन हैं। उन्हे इधर उधर से सुन्दर सुललित भाषा में लिख दिया। इसमें नई बात कौन सी है ? सेठ ने सुन्दर सुमनो का बाग लगाया है। उसमे नाना भाँति के पुष्प खिल रहे हैं। माली ने भाँति-भाँति के रंग विरंगे फूल तोड़ कर सुई डोरा से एक हार बना दिया। आप माली की प्रशसा करते हैं। माली का उसमे क्या है ? फूल सब सेठ के बगीचा के, सुई डोरा भी दूसरो का उसने उन्हे यथा स्थान लगाकर भर दिया है। इसी प्रकार समस्त ज्ञान तो व्यासजी द्वारा उच्छिष्ट कर दिया गया है। व्यासजी के शास्त्र रूपी जो उपवन हैं, उनसे सुमन रूप उपदेश एकत्रित कर दिये हैं। वे भी एकत्रित अपनी वासना पूर्ति के निमित्त किये हैं। नहीं तो शास्त्रों में तो सब कुछ है। भागवती कथा लेखन को परमार्थ का साधन मानकर करें तब तो कुछ उचित भी है यदि उसे अहङ्कार पूर्वक प्रसिद्धि के निमित्त करें और अपने को कर्ता उपदेष्टा, सुचतुर लेखक मानें तो यह तो और परमार्थ से गिरने का साधन है। यह जो प्रचार प्रमुख जीवन है यह आत्म शान्ति में विशेष साधक नहीं। हमने अनेक प्रचार प्रमुख व्यक्तियों को देखा है, उनसे हमारी घनिष्टता रही है। सहस्रों लाखों उनके अनुयायी थ, उनकी कथा मे, प्रवचनो में लाखों की भीड होती थी, अनेक उनके प्रचार केन्द्र थे, अनेकों प्रचार मन्च समाचार पत्र उनकी प्रशसा प्रसारित करने के साधन थे, किन्तु उनका जीवन अत्यन्त अशान्त रहा, चित्त सदा उद्विग्न रहा है इसीलिये स्वामी शंकराचार्यजी ने कहा है—"लच्छेदार मधुर वाणी, धारा प्रवाह प्रवचन, शास्त्रों के उद्धरण देने में प्रत्युत्पन्न मति ये सब सांसारिक वैषयिक सामग्री जुटाने के–मुक्ति के साधन तो हो सकते हैं।

मुक्ति के साधन नहीं। हम अपनी वासना पूर्ति करते हैं-लोगों को बहकाने को उसे परमार्थ प्रचार कहते हैं। हम परमार्थ के लिये परोपकार के लिये गोरक्षा का आन्दोलन कर रहे हैं-परोपकार के लिये कष्ट सह रहे हैं—"गौ माता के कष्टों को दूर करेंगे।" अरे, अज्ञानी! तुझमें क्या सामर्थ्य है, जो तू गो माता के कष्ट को दूर कर सके। गौ सबसे अधिक गोपाल को प्यारी हैं। गोपाल तुझसे अधिक शक्तिशाली हैं, वे कहीं चले नहीं गये हैं। वे कहीं चले गये होते, तो असख्यों भक्त साधक उनके साक्षात्कार के लिये साधन क्यों करते? अनेकों वैष्णवों को वे अब भी प्रत्यक्ष दर्शन कैसे देते? वे अभी उपस्थित हैं और सदा सर्वदा रहे हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। जब वे गो माता के कष्टों को दूर नहीं करते, तो तुझ अल्पज्ञ की क्या सामर्थ्य? तू क्या गो माता का दुख दूर करेगा। तू तो गोरक्षा के नाम पर अपनी वासनाओं की पूर्ति कर रहा है। हाँ गोरक्षा को साधन मानकर अपने अशान्त मन को शान्त करने का प्रयत्न करे तो कोई बात भी है। इस प्रकार प्रचार प्रमुख व्यक्ति जब स्वय ही अशान्त रहते हैं, तो लोगों की अध्यात्म उन्नति क्या करावेंगे? हाँ साधारण साधकों को अच्छे कामों के प्रति रुचि पैदा करने का तो ये साधन काम करते हैं। किन्तु अध्यात्म मार्ग में तो धर्म-अधर्म, अच्छा-बुरा, सत्य-अनृत, इन दोनों से ही ऊपर उठना होता है। मेरा जीवन प्रचार प्रमुख ही रहा। आरम्भ से ही मैं यह चाहता था, कि मुझे मेरे मन के अनुकूल सगी साथी सहायक मिल जायँ तो हिमालय को उठाकर उत्तर से दक्षिण में रख दूँ। किन्तु न तो मुझमें दैवीशक्ति सामर्थ्य थी, न इतना घोर तप त्याग तथा ज्ञान वैराग्य ही था। फिर मुझे ऐसे अनुयायी कैसे मिलते? जैसे दरिद्रों के अनेकों मनोरथ उत्पन्न

-होते और विलीन होते रहते हैं वैसे ही मेरी योजनायें मन में उत्पन्न होतीं और साधनों के अभाव में विलीन हो जातीं।

हम अधिक से अधिक साधक बढ़ाने की चिन्ता में थे, कि सहसा मेरा सम्बन्ध महामण्डल से विच्छेद हो गया। मुझे बाबू सम्पूर्णानन्दजी ने पहिले से ही सचेत कर तो दिया था कि यह कुख्यात संस्था है सावधानी से रहना।" किन्तु मैंने सोचा-मुझे किसी से क्या काम" खरी मजूरी चोखा काम। ४०-५० पृष्ठ की छोटी-सी मासिक पत्रिका थी, मेरे लिये एक दिन का काम था। स्वामी ज्ञानानन्दजी से मेरा परिचय तक नहीं हुआ था। वे ऊपर रहते थे, और कभी साल छः महीने में बहुत आवश्यक कार्य से नीचे आते। नहीं सदा ऊपर ही रहते। जो उनके अन्तरङ्ग, होते ऊपर ही उनके दर्शन कर आते। मुझे कभी उन्होंने बुलाया नहीं, स्वयं मैं कभी उनके यहाँ गया नहीं। वे एक असाधारण व्यक्ति थे। उनमें कुछ आध्यात्मिकता रही हो, मुझे तो प्रतीत नहीं हुई। किन्तु वे अत्यन्त व्यवहार कुशल नीतिज्ञ और संस्थोपजीवी व्यक्ति थे, वे बंगाली थे, उनका जन्म उत्तर प्रदेश के मेरठ नगर में हुआ था। उनके पिता प० मधुसूदन मुकर्जी मेरठ में व्यवसाय करते थे। सेना के खाने पीने का सामान पहुँचाते थे। अच्छे खाते पीते व्यक्ति थे। उनकी आठवीं सन्तान ये थे। ये भी दसवीं श्रेणी तक पढ़कर फिर व्यापार करने लगे, इनका विवाह भी हुआ एक कन्या भी हुई। परिवार बड़ा था। पारिवारिक झंझटों से विरक्त होकर हरिद्वार में जाकर इन्होंने स्वामी केशवानन्दजी से सन्यास ले लिया। किन्तु वहाँ उनके शिष्यों से इनकी पटरी बैठी नहीं, दो ही चार दिनों में वे हरिद्वार छोड़कर आबू में जाकर रहने लगे। बंगाली प्रायः शक्ति के उपासक होते हैं। स्वामी केशवानन्द बंगाली होने से शाक्त

संस्कारापन्न ही थे। किन्तु अभी तक उन्होंने विधिवत् शाक्त सम्प्रदाय की किसी भी संस्था से दीक्षा नहीं ली थी। मैंने वृन्दावन मे इनके दर्शन किये थे। श्रीरङ्गजी के बगीचे के पास इनका आश्रम था। हरिद्वार, विन्ध्याचल, भुवनेश्वर मे भी इनके आश्रम थे। ये उतने व्यवहार कुशल नहीं थे जितने स्वामी ज्ञानानदजी। स्वामी ज्ञानानन्दजी ने ही इन्हे विधिवत् तान्त्रिक शाक्त दीक्षा श्री श्यामाचरणजी लाहिडी से दिलायी थी। लाहिडीजी की उन दिनों बडी ख्याति थी, सुनते हैं उन्हे हिमालय के एक सिद्ध योगी की कृपा से श्री मा जगदम्बा का साक्षात्कार हुआ था। ये सिद्ध पुरुष हिमालय के योगी कोन थे, उनका नाम ज्ञात नहीं हुआ।

वृन्दावन में वशीवट पर जो हमारा सकीर्तन भवन आश्रम है, उसके पास ही लाला बाबूजी के मन्दिर के सामने एक हैडियाखान बाबा का मन्दिर है। उसमे हेडियाखान बाबा की सगमरमर की सुदर मूर्ति है उसकी विधिवत् पूजा होती है। एक महेन्द्र ब्रह्मचारी नाम के मैथिल देश के महात्मा थे। हमारा उनमें अत्यन्त ही स्नेह था। उन्हे कभी पॉच वर्ष की अवस्था में हैडियाखान बाबा ने दीक्षा दी थी। उन्हें स्मरण ही नहीं था। पीछे वे कई चमत्कारों के कारण हेडियाखान बाबा के परम भक्त बन गये। उन्हें साक्षात् शिव का अवतार मानकर उनकी पूजा करते। हलद्वानी मे, वृन्दावन मे और भी कई स्थानों में [illegible] बाबा के नाम के स्थान बनवाये। हैडियाखान [illegible] की पहाडियों मे छोटा-सा गाँव है। बाबा उसी गाँव में [illegible]। [illegible] उन्होंने शरीर त्याग दिया था। [illegible] बाबा को उनके फिर भी अनेको बार दर्शन हुए। [illegible] हम हलद्वानी में बाबा के [illegible] दिन का स्मरण करते हैं

२

सेकड़ों नर नारी वहाँ उपस्थित थे। उसी भीड में खडॉऊ कटोप लगाये बाबा प्रकट हुए। हम सब लोगों ने उनकी आरती की पूजा की और वे हमारी पूजा को ग्रहण करके अन्तर्धान हो गये। ऐसे उनके अनेकों सिद्धियों के चमत्कार नेनीताल अल्मोड़े के आस पास विख्यात हैं। जिन्होंने उनका दर्शन किया है, सत्सग किया है वे उनके त्रिकालदर्शी होने की बहुत सी बातें मुझे सुनाते थे। मैंने स्यात् उनके दर्शन नहीं किये, किन्तु उनके चित्रपट को देखकर लगता हे, उन्हे मैंने कहीं यात्रा मे देखा हे। वहाँ के सभी लोगों का विश्वास हे। बाबा कहीं गये नहीं हैं। अन्तर्धान हो गये हैं। योग्य अधिकारियों को वे अब भी दर्शन देते हैं।

महेन्द्रजी से मेरी बहुत ही घनिष्टता थी। मैं उनके साथ हेड़ियाखान जाने वाला भी था, किन्तु जलोदर की बीमारी के कारण उनका अकस्मात् देहान्त हो गया। उनका कहना था, श्यामाचरण लाहिड़ी उन्हीं के शिष्य थे। स्वामी योगानन्दजी जिन्होंने अमेरिका आदि विदेशों में लाखों शिष्य बनाये हैं। जो लाहिड़ीजी के शिष्यों मे थे। उन्होंने भी हैड़ियाखान बाबा के दर्शन किये थे। वे श्रीहेड़ियाखान बाबा के चित्र के साथ श्रीश्यामाचरण लाहिड़ी और स्वामी योगानन्दजी का भी चित्र रखते थे स्वामी योगानन्दजी तो कुम्भी के अवसर पर चार पाँच विदेशी शिष्यों को लेकर हमारे यहाँ आये थे। उन दिनों श्रीउड़िया बाबाजी हमारे आश्रम मे विराजमान थे। उनसे उनके शिष्यों ने कई प्रश्न भी किये थे।

हम लोगों के जन्म जात संस्कार वैष्णव धर्म के अनुसार हैं। किसी को मास मदिरा का सेवन करते देखते हैं, तो हम उनसे हार्दिक घृणा करने लगते हैं। हम लोग तो मास मदिरा का

स्पर्श तो क्या नाम लेना भी पाप समझते हैं। किन्तु शाक्त धर्म में तो पंच मकार (मांस, मत्स्य, मैथुन, मदिरा और मुद्रा) सिद्धि के मुख्य साधन हैं। वे तो सन्यास के पश्चात् शक्ति रखने को एक प्रकार का विवाह करते हैं और इन सबका प्रयोग करते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंस शक्ति के उपासक थे। उन्हें कोई भगवती का प्रसाद मांस देता तो उसे मस्तक पर चढ़ाकर लौटा देते। शाक्तों में पंचमकार का स्पष्ट या गुप्त रूप से सर्वत्र प्रचार है। उनके मत में सिद्धि के लिये ये आवश्यक हैं। इस प्रकार श्रीश्यामाचरणजी लाहिड़ी तो सुप्रसिद्ध शाक्त ही थे। स्वामी केशवानन्दजी सन्यासी होने पर भी उन गृहस्थ पुरुष के सविधि शिष्य बने। किन्तु हमारे स्वामी ज्ञानानन्दजी अन्तः शाक्त थे। वे बड़े व्यवहार कुशल तथा चतुर थे।

शाक्तों के आचार्य कौल कहलाते हैं। उनके आगम ग्रन्थ कुलाचार कहलाते हैं। हमारे यहाँ एक श्लोक प्रचलित है। "कौल लोग भीतर से तो शाक्त होते हैं, ऊपर से रुद्राक्ष, त्रिपुंड लगाकर शैवों का वेष बना लेते हैं और सभाओं में शुद्ध वैष्णव बन जाते हैं। इस प्रकार नाना रूपों को धारण करके कौल लोग महीतल पर विचरण करते हैं।"* इस प्रकार हमारे स्वामी ज्ञानानन्दजी अन्तः शाक्त थे। कहते हैं हरिद्वार से आकर इन्होंने आबू पर्वत पर घोर जंगल में-वसिष्ठाश्रम में साधना की। इनकी आकृति तो भव्य थी ही। व्यवहार कुशल भी थे। वहीं पर खेतड़ी के राजा साहब आये हुए थे। वे इनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए। वहाँ रहते हुए इनका राजस्थान के अन्य राजाओं से भी परिचय हो गया। वे राजाओं के यहाँ आने जाने लगे।

---

* अन्त शाक्ता. बहि शैवा सभा मध्ये तु वैष्णवाः।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले॥

इनका शरीर गौर वर्ण का भारी भरकम भव्य था। ‹
बडे सुन्दर थे। जब बडे लोगों से सम्पर्क हुआ तो पूर्व ज
सस्कारों के अनुसार इन्होंने एक निगमागम मण्डली बन
कुछ शिष्य सेवक एकत्रित करके धर्म प्रचार का झडा उठ
उन दिनों आर्य समाजी और सनातन धर्मियो के स्थान
पर बहुत शास्त्रार्थ होते थे। आर्य समाज की उन दिनों
प्रदेश मे बडी धूम थी, आर्य समाज नये विचार के नवशि
पुरुषों को अपनी ओर अत्यधिक आकर्षित कर रहा था।
बहुत से राज्य के उच्चाधिकारी, विधि प्रवक्ता तथा उत्साही
वर्ग सम्मिलित थे। स्थान स्थान पर गुरुकुल खोले जा रहे
अब तो सनातन धर्मियों में भी खलबली मची। उन्होंने
विरुद्ध प्रचार करना आरम्भ किया। वे भी आर्यसमा
विरोध में सनातन धर्म सभाओ की स्थापना करने लगे।
कुलों के विरोध में ऋषिकुलों की स्थापना करने लगे।
समाजियों ने सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा बनायी।
तनियों ने उसके विरोध में भारत धर्म महामण्डल की स्थ
की। आर्य समाजियो का प्रचार तो नियम पूर्वक सुव्यव
ढँग से होता था। उसमे बहुत से उत्साही त्यागी विरागी
लगन के व्यक्ति थे। हमारे सनातनियों का तो वही प्राचीन
था। बडे बडे विद्वान् पडित व्याख्यान देने जाते, जो कुछ
दक्षिणा होती, वह उनकी अपनी हो जाती। उन दिनों सन
धर्मियों में प० दीनदयालजी शर्मा व्याख्यान वाचस्पति, प
ज्वालाप्रसादजी मिश्र, प माधवप्रसाजी मिश्र, प० दुर्गाद
पन्त नाटकिया आदि गण्यमान पडित थे। हमारे स्वाम
व्यवहार कुशल तो थे ही बड़ी युक्ति से भारत धर्म महामण्डल
अपना अधिकार जमा लिया। अब तक तो महामण्डल का

डिताऊ ढंग से अव्यवस्थित चलता था। इन्होंने युक्ति से धनी मानी राजा महाराजाओं की सहानुभूति से उसे पंजीकृत (रजिस्ट्री) कराया। फिर मथुरा से उसके कार्यालय को काशी उठा लाये। यहाँ भी बड़ा संघर्ष रहा। जिनसे भी इनका सम्पर्क रहा वही इनके एकाधिपत्य के विरुद्ध हो गया। अनेकों इनके ऊपर अभियोग चले। अनेकों इनकी योजनायें थीं। इसका अखिल भारतीय रूप देना चाहते थे, किन्तु वह बना नहीं। महामण्डल एक ज्ञानानन्दजी का मठ मात्र रह गया। राजे महाराजे कुछ करने धरने वाले तो थे ही नहीं। धन दे देते थे। स्वामीजी ने अपने ढंग से प्रचार करना आरम्भ किया। इनके एक प्रमुख शिष्य स्वामी दयानन्दजी थे वे भी बगाली ही थे। पहिले ये जहाँ कांग्रेस के अधिवेशन होते थे वहाँ इसका अधिवेशन कराते थे, वह भी समाप्त हुआ। कई भाषाओं में पत्र निकाले और ये सब कुछ दिन चलकर बन्द हो गये। मैं जब वहाँ काम करने गया, तब तीन ही पत्र वहाँ से निकलते थे। अँगरेजी में मासिक 'महामंडल मेगजीन' हिन्दी में 'निगमागम चन्द्रिका' और स्त्रियों के लिये त्रैमासिक "आर्य महिला" किन्तु स्वामीजी का मस्तिष्क नित्य नई योजनाओं का भडार था। छः दर्शन प्रसिद्ध थे, स्वामीजी ने अपने मस्तिष्क से एक सातवाँ दर्शन 'दैवी मीमांसा दर्शन' बनवाया, कई गीतायें बनवायीं। किंतु पंडित समाज ने उनका आदर नहीं किया। महामंडल के प्रायः सभी विरोधी हो गये। सबसे अधिक विरोधी तो महामना मालवीयजी थे। मेरे सामने ही पंडितों ने महामंडल के विरोध में एक व्यवस्था दी। किन्तु स्वामी जी इतने व्यवहार कुशल मँजे हुए थे, कि सब प्रहारों को सहते सबकी सुनते किसी को उत्तर नहीं देते। नये-नये विधान नई-नई योजनायें बनाते रहते। आर्थिक सहायता देने को बहुत से राजे

महाराजे धनिक व्यक्ति इनके प्रभाव में थे। मैं जब वहाँ क
करता था, तो स्वामीजी ने एक नई संस्था 'भारत धर्म . . .
लिमिटेड' नाम से कम्पनी बनायी थी। उसमें बड़ी बड़ी य.
थीं। हिन्दी, अँगरेजी, गुजराती, मराठी तेलगु तामिल सभी
में पत्र निकलेंगे और जाने क्या-क्या होगा। आरम्भ में हिन्दी में
'साप्ताहिक भारतधर्म' अँगरेजी में दैनिक "महाशक्ति" ।रम्भ
हुए। अब इनको सम्पादक चाहिये। सम्पादक भी ऐसे जो
स्वामीजी की बुद्धि से काम करें।

हमारे प० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर स्वामीजी के ऐसे ही पार्षद थे। बहुत मँजे हुए व्यवहार कुशल, शान्त और समय को देखकर काम करने वाले थे। साधु वेष होने के कारण वे मेरा आदर भी करते थे और पुत्र के समान प्यार भी करते थे। महाराष्ट्रीय होने पर भी हिन्दी पर उनका पूरा अधिकार था, नाटक खेलने में दक्ष थे। स्वामी ज्ञानानन्दजी जो श्रीजी के नाम से ख्यात थे। वे दिन को रात्रि कहे, तो दुगवेकरजी तारा और चन्द्रमा गिना देते थे। प्रत्येक बात पर 'जो आज्ञा' उनकी टेक थी। ऐसे दरबारी आदमी मैंने बहुत कम देखे। मुझसे वे अपने मन की भीतरी बात बताते थे। कहते थे ब्रह्मचारीजी! अभी आपका नया रक्त है, व्यवहार से आप अनभिज्ञ हैं, देखिये—

> जाट कहै जाटिनी इसी गाँव में रहना।
> ऊँट बिलाई ले गयी तो हॉजी हॉजी कहना॥

वे न जाने श्रीजी के कितने न्यासों के कितनी समितियों के सदस्य थे। वे शास्त्रों का जो 'आनन्द' है उसके सेवी थे। बड़ी-बड़ी आँखें, भरा हुआ चेहरा, प्रभावशाली व्यक्तित्व, कभी क्रोध न करना यही उनकी विशेपता थी। मिट्टी की एक गुड़गुड़ी पर

चिलम रखकर दिन भर तमाखू पीते रहते थे। आप उन्हें जब देखो, गुडगुडी पीते हुए धूँआ निकालते रहते थे। तुभी तो वे लगभग पचास वर्षों तक श्रीजी के कृपा-पात्र बने रहे। श्रीजी पर न जाने कितने अभियोग चले, कितने लाछन लगाये गये, उनके विरुद्ध कितने लेख छपे, हमारे दुगनेकर पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं पडा। उन्हें अपने काम से काम। श्रीजी के यहाँ से जब बुलाहट आई अपनी गुडगुडा को छोडकर हाथ जोडे उपस्थित हो गये।

जब 'भारत धर्म सिन्डोकेट लिमिटेड' कम्पनी से साप्ताहिक "भारत धर्म" निकलने लगा, तो वे ही उसके प्रधान सम्पादक बनाये गये। अब तक वे 'निगमागम चन्द्रिका' के प्रधान सम्पादक थे। वह पद उन्होंने मुझे दिया। अब तक मैं महामडल में नगण्य साधारण उप सम्पादक माना जाता था। श्रीजी के यहाँ मेरी पहुँच नहीं थी। अब मेरी भी गणना वहाँ के लोगों मे होने लगी। एक दिन मेरी श्री जी के अन्त पुर मे बुलाहट हुई। वे नित्य नयी नयी योजनायें बनाया करते थे। उन दिनो स्वराज्य की बहुत धूम थी। राष्ट्रीय आन्दोलनों ने धर्म सभाओ को गोण बना दिया। राष्ट्रीय विचार वाले धर्म से उदासीन से हो गये। हमारे श्रीजी ने इससे लाभ उठाने को एक "अखिल भारतवर्षीय वर्णाश्रम स्वराज्य सघ" की स्थापना की। मुझे उत्साही, राष्ट्रीय विचार वाला उग्रस्वभाव का युवक देखकर मुझसे कहा—"तुम इसके मत्री बन जाओ।" मैंने कहा—'स्वामीजी, मेरा तो नियम है मैं किसी सभा समिति का सदस्य या पदाधिकारी नहीं बनता।" निश्चय ही मेरी अस्वीकृति उन्हें बुरी लगी होगी, किन्तु वे इतने गम्भीर थे, कि कुछ बोले नहीं।

फिर महामडल से साप्ताहिक या पाक्षिक एक सस्कृत

"सुप्रभातम्" पत्र निकला। हमारे पं० विन्ध्येश्वरी प्रसादजी शास्त्री जो अब तक त्रैमासिक 'आर्यमहिला' के सम्पादक थे वे उसके सम्पादक हुए। अतः 'आर्यमहिला' का सम्पादन भार भी मुझे ही मिला। तीसरे महीने लेखों का सम्पादन करके उसे निकालना था। मेरे लिये कोई बड़ा काम नहीं था। मैं एक उदासीन की भाँति वहाँ दो तीन घन्टे का काम कर आता। एक या दो सहायक भी मेरे थे। महामंडल में ऊपर क्या होता है, इन बातों की न मैंने कभी जिज्ञासा की न रुचि ही ली। मुझे अपने काम से काम।

अब मुझे ठीक तो स्मरण नहीं रहा। वहाँ कई ट्रस्ट थे, कई सभा समितियाँ थीं, कई कोश थे महामाया ट्रस्ट या किसी अन्य ट्रस्ट की बैठक हुई। उसकी कार्यवाही किसी ने मुझे छापने को दी, मैंने उसे "आर्य महिला" में छाप दिया। श्रीजी स्यात् कुछ प्रस्तावों को छपवाना नहीं चाहते। जिसे छापने को दिया उससे पूछा होगा--यह किसने छपा दिया। अपने को बचाने को उसने कह दिया होगा मुझे पता नहीं ब्रह्मचारीजी ने छाप दिया।"

अब मेरी बुलाहट हुई। मुझसे पूछा गया—"तुमने अमुक प्रस्ताव क्यों छापा ? मैंने कह दिया—"मुझे किसी ने दे दिया, मैंने छाप दिया।" इस पर श्री जी ने कहा—"तुमको जो भी छापना हो, मुझसे पूछकर छापना चाहिये।"

यह मेरे आत्मसम्मान के विरुद्ध था, मुझे क्रोध आ गया। मेरी मूर्खता थी, मुझे क्रोध न करके स्पष्ट कह देना चाहिये था आगे से पूछकर छापा करूँगा। किन्तु युवावस्था की आंधी, सम्पादक पने का अहंकार। मैंने उत्तेजित होकर कहा—"मैं कोई बधा हूँ क्या जो आप से पूछकर छापूँ ? मैं सम्पादक हूँ, जो मेरे मन में आवेगा वह छापूँगा।"

यह सुनकर उन्होंने क्रोध नहीं किया, वे तो देशकाल देखे थे। मुझ जैसे कितने लोगों को उन्होंने चराया था। वे सूखी हँसी हँसकर बोले—"हैं, हैं, बच्चा, हमारे लिये तो तुम बच्चे ही हो भैया!" इसी प्रकार एक दो बात प्रेम की करके मुझे विदा किया। उस दिन उन्होने समझ लिया यह व्यक्ति हमारे चंगुल मे फँसने वाला नहीं। हमारे काम के अयोग्य है। कुछ दिन तो वे कुछ भी न बोले। मैंने समझा बात गयी आयी हो गयी, किन्तु वे समझ गये यह विरोधी है। अतः एक दिन मुझे मन्त्री का पत्र मिला—"आपको सम्पादक पद से निवृत्त किया जाता है। आप चाहें तो शास्त्र प्रकाशन विभाग में कार्य कर सकते हैं।"

मैं आवेश में भरा हुआ श्रीजी की सेवा मे धड़धड़ाता चला गया। वे आराम कुर्सी पर बैठे थे। मेरी आकृति को ही देखकर समझ गये, यह लड़ने के लिये आया है। किन्तु वे तो घुटे मुड़े थे, न जाने कितने ऐसे लोगों से वे निवट चुके थे। सूखी हँसी हँसकर उन्होंने मेरा अभिनन्दन किया। आवेश में न जाने मैं क्या क्या कह गया। वे शान्त गम्भीर बने सब सुनते रहे फिर हँसकर बोले—"शास्त्रप्रकाशन विभाग में काम करने मे आपको क्या आपत्ति है?" मैंने कहा—"मुझे महामण्डल में काम करना ही नहीं है, किन्तु यह क्यों लिखा कि आपको निवृत्त किया जाता है।"

वे हँसकर बोले—"मन्त्री ने लिख दिया होगा। आप चाहें जहाँ काम करें।" मैंने कहा—"मुझे करना ही नहीं। मैं त्याग पत्र देता हूँ।" वे बोले—"अच्छी बात है, त्याग पत्र ही लिखकर दे दीजिये।"

मैंने अपने आँसू पोंछने को त्याग पत्र लिखकर दे दिया।

इसके पश्चात् जो महामण्डल छोड़ा, अबके ५० वर्षों पश्चात् उसमें गया।

अबके जाकर मैंने देखा वह भवन श्रीहीन हो रहा है। स्वामी ज्ञानानन्द जी की जटायें एड़ियों का चुम्बन करती थीं। उनकी आकृति से भी लम्बी दाढ़ी भूमि पर लटकती थी, गौर वर्ण, सेब की भाँति लाल चेहरा मुखमंडल पर चतुरता की छटा स्पष्ट प्रतीत होती थी। उनके यहाँ से जो गया। उनके विरुद्ध हो गया। सैकड़ों भाँति-भाँति के अभियोग चले बहुतों में हारे बहुतों में जीते। लगभग सौ वर्ष की आयु में उन्होंने इस नश्वर शरीर का परित्याग किया। उनके शिष्य स्वामी दयानंदजी उनसे पहिले हीं चल बसे थे। उनके कुछ अनुयायी कुछ स्वार्थ परायण लोगों को छोड़कर जनता में उनका आदर नहीं था। पत्रों मे उस संस्था को कुख्यात संस्था और स्वामी जी को कुख्यात बाबा लिखा जाता था। वे अपने ढङ्ग के निराले ही थे। इतने विरोधों के रहते हुए भी वे अपनी दिनचर्या मे अटल रहे। उनके शिष्य सेवकों मे बहुत से राजे महाराजे थे और विरोधियों मे बड़े-से-बड़े लोग थे। किन्तु उनका कोई कुछ विगाड़ नहीं सका।

मैंने भी महामंडल छोड़ने पर उनके विरुद्ध 'महामंडल स्वामी ज्ञानानन्द का कमडलु' एक छोटी सी पुस्तक लिखी। जिसे राजा साहब खेतरी ने अपने द्रव्य से छपाया और सूर्य प्रेस में छपी। राजा साहब स्वामीजी के प्रबल विरोधियों में से थे।

महामंडल छोड़ने पर मुझे आर्थिक कठिनाई का सामना नहीं करना पडा। गोपाल मन्दिर से एक 'वैष्णव वैभव' मासिक पत्र निकलता था। उसके सम्पादक हरिशंकर शास्त्री गुजराज में किसी शिक्षा निरीक्षक के पद पर चले गये मैं उसका संपादक नियुक्त हुआ। बाबू कृष्णदासजी उसके मंत्री थे। बड़े ही

सज्जन भगवत्भक्त देश काल के ज्ञाता तथा संस्थाओं के कार्य में कुशल हैं। ५० वर्ष के पश्चात् गत वर्ष इन्होंने मुझे श्रीवल्लभ जयन्ती पर बुलाया था। परस्पर मिलकर हम बड़े प्रसन्न हुए। वे बोले—"ब्रह्मचारी जी से आज ५०-५२ वर्ष के पश्चात् मिल कर हम अपने को इस ७५ वर्ष की अवस्था में भी २५ वर्ष का अनुभव कर रहे हैं।"

स्वामीजी के विरुद्ध पुस्तक लिखकर मैंने अच्छा काम नहीं किया। मुझे किसी की निन्दा स्तुति कभी नहीं लिखनी चाहिये थी। किन्तु उस समय युवावस्था का उन्माद था। मुझे अपने सदाचारी देशभक्त होने का अभिमान था। उसी अभिमान और उन्माद के आवेश में न लिखने योग्य पुस्तक मैंने लिख दी। उसका मुझे पश्चात्ताप है।

जेल में तो राजनैतिक पुरुषों के आचरण देखकर राजनैतिक नेताओं से विरक्ति हुई थी। यहाँ काशी में लेखकों, कवियों, प्रकाशकों और संस्थाओं के संचालकों के आचरणों को देखकर विरक्ति हुई। बड़े बड़े लेखक, कवि, संपादक सुरा सुन्दरी सेवी थे। वे प्रकाशकों के सम्मुख गिड़गिड़ाते रहते थे। पैसों के लिये उनसे जो चाहो लिखा लो। मुझे पैसा का लोभ कभी भी नहीं हुआ। साधु होने पर भी एक महान् दुर्बलता मुझ में यह रही और वह अब भी है कि भोजन के लिये किसी के सम्मुख हाथ फैलाने में मुझे अत्यन्त ही लज्जा लगती है। इसीलिये मुझे साहित्यिक जीवन अपनाना पड़ा। किन्तु अब मेरी इस कार्य से अत्यन्त विरक्ति हो गयी। मैंने सोचा—'मैं किसलिये यह कार्य कर रहा हूँ। पेट ही तो भरना है। गृहस्थी मुझे चलानी नहीं। जैसे मैं चाहता हूँ वैसे त्यागी विरागी साथी मिलते नहीं। इस लिये सब छोड़ छाड़कर हिमालय की कन्दराओं में चल कर

रहें। जंगली कन्द मूल फलों से निर्वाह करते हुए हिमालय में रहकर पक्षियों की भाँति जीवन को बिता दें। यही निश्चय करके जीवन भर लेखनी से कागज पर न लिखने की प्रतिज्ञा करके मैं गंगा किनारे-किनारे पैदल ही अपने इन्द्र और गोविन्द दो साथियों को लेकर हिमालय की ओर चल पड़ा। अब गंगाजी के किनारे और हिमालय के अनुभव अगले संस्मरणों में पाठकों को पढ़ने को मिल सकते हैं।

छप्पय

आयु, कर्म अरु वित्त, निधन, विद्याहु भाग्यवश।
मान, प्रतिष्ठा, कीर्ति पाइँ नर विवश करमवश॥
हैं नहिं ये परमार्थ भोग करमनि के जानो।
परमारथ शुभ अशुभ उभय तें न्यारो मानो॥
लोकसंग्रही, प्रचारक, नेता, वक्ता जगत में।
परमशान्ति पावैं नहीं, इनि संसारिनि नरनि में॥

भाद्र० शु० राधाष्टमी
संकीर्तन भवन, झूसी (प्रयाग) } प्रभुदत्त

सर्वमय आत्मा की कर्मानुसार विभिन्न गतियाँ

(२५२)

तद् यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामपादायान्यन्नवतरं कल्याणतर रूप तनुत एवमेवायमात्मेदꣳशरीर निहत्याविद्या गमयित्वान्यन्नवतर कल्याणतरꣳरूप कुरुते पित्र्य वा गान्धर्वं वा दैव वा प्राजापत्य वा ब्राह्मं वान्येषा वा भूतानाम् ॥*

(वृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० ४ म०)

छप्पय

आत्मा मन, विज्ञान, प्राण, पृथिवी, तेजोमय।
चक्षु, श्रोत्र, जल, वायु अतेजोमय अक्रोधमय॥
काम, क्रोध अरु धर्म विरुध सबके अधर्म मय।
कहँ कहाँ तक जीव आतमा सकल सर्वमय॥
जो परोक्ष प्रत्यक्ष है, जगत माहिँ वह सकल है।
शुभ करमनि को श्रेष्ठ फल, अशुभनि का फल अशुभ है॥

---

* जैसे कि कहा गया है—'सुनार जिस प्रकार सोने की मात्रा लेकर (उसे अग्नि में पका कर उससे) दूसरे अन्य नवीन कल्याणतर रूप को बना देता है, उसी भाँति यह आत्मा इस शरीर को मृतक बना कर—अचेतनावस्था—अविद्या—को प्राप्त करा के अन्य पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों में नूतन कल्याणतर रूप की रचना करता है।'

प्रधान वस्तु एक होती है नाम और आकृति के कारण वह भिन्न-भिन्न सी प्रतीत होने लगती है। जैसे शर्करा एक ही है। हाथी, घोड़ा, ऊँट बछेड़ा के साचों में ढाल देने से भिन्न-भिन्न रूप और नाम रखने से वे चीनी के खिलौने भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। मृत्तिका एक ही है, उसके बने नाना पात्र नाम और आकृतियों के कारण भिन्न-भिन्न नाम वाले बन जाते हैं, सुवर्ण एक ही है, सुवर्णकार उस सुवर्ण को गलाकर भिन्न-भिन्न आकृति के आभूषण बनाकर उनके केयूर, कटक, हार, अंगुलीय तथा कुंडलादि नाम रख देता है। सूत्र एक ही हैं, किन्तु उन सूत्रों को विविध रंगों मे रंगकर ताना-बाना छोटा बड़ा बनाकर उसके धोती, अँगोछा, दुपट्टा, पगड़ी तथा उत्तरीय आदि अनेक नाम रख लेते हैं। ऐसे ही समस्त प्राणियों में जीवात्मा तो एक ही है। कर्मानुसार पुण्य तथा पापों के फलस्वरूप जीवात्मा विभिन्न योनियो मे जाता है। जिस योनि में प्रवेश करता है, उस योनि के ही अनुसार उसकी आकृति प्रकृति बन जाती है। उसी के अनुसार नाम में उसकी आसक्ति हो जाती है पाप कर्मो से सूकर, कूकर आदि अधम योनियाँ मिलती हैं, पुण्य कर्मों के फलस्वरूप वही देवता, गन्धर्व तथा विद्याधर आदि देवयोनियों में चला जाता है। यदि वह पुण्य पाप से रहित होकर निष्काम हो जाता है, तो मोक्ष का अधिकारी बनता है। मनुष्ययोनि तिराहा है। यहाँ से नीच योनियों में भी जाते हैं, उच्चयोनियों में भी जाते हैं और यहीं से मुक्त भी हो जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह आत्मा कर्मानुसार जिस योनि में प्रवेश करता है, उसी की आकृति के अनुसार अपनी भी आकृति बना लेता है। जैसे चींटी के शरीर से हाथी के शरीर

में गया तो अपना आकार हाथी के सदृश बना लेगा। मृत्यु कोई अपूर्व वस्तु नहीं है, रूपान्तर की अवस्था मात्र है। एक प्रकार की चिरनिद्रा है। निद्रा में पुरुष अचेत हो जाता है, किन्तु निद्रा खुलने पर पुनः चेत जाता है। मृत्यु में अत्यन्त विस्मृति हो जाती है। वहाँ अचेतनावस्था अधिक काल की होती है। इस पहिले शरीर को अचेतन करके जीवात्मा दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! आत्मा इस मर्त्यलोक की मानवीय देह का परित्याग करके स्वर्गादि पुण्यलोक की देवतादि दिव्य योनियों में कैसे चला जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! एक सुनार है, उसे किसी ने एक बहुत मैला, पुराना, जीर्ण शीर्ण, काले रंग का हार दिया और कहा– 'इसका नवीन सुन्दर हार बना दो।" सुनार ने उस कुरूप काले पुराने हार को अग्नि में तपाकर उसका मल निकाल दिया। जब विशुद्ध खरा सुवर्ण शेष रह गया, तब उसका नवीन अत्यन्त सुन्दर, चमकीला, नाना प्रकार से चित्र विचित्र रचनाओं से रचकर उसमें हीरा, पन्ना, नीलम पुखराज जड़कर बहुत ही सुन्दर हार बना दिया। यद्यपि सुवर्ण वही है उसे विशुद्ध करके नवीन रूप देकर अधिक सुन्दर–कल्याणतर–रूप की उसी से रचना कर दी। इसी प्रकार मनुष्य शरीर में रहने वाला जीवात्मा तो वही है। अधिक पुण्यों के कारण–तपादि सत्कर्मों के प्रभाव से उस पुराने पहिले शरीर को नष्ट करके जीवात्मा दिव्य शरीरों में प्रवेश कर जाता है। जैसे कर्म हों, उन कर्मों के ही अनुसार वह कभी पितरों की योनि में जाकर कव्य को खाने लगता है, कभी गन्धर्व देह में जाकर संगीत के सुख का अनुभव करता है, कभी देवता शरीर में दिव्यरूप से अमृत का

पान करने लगता है, कभी प्रजापति बनकर प्रजाओं की करता है और कभी ब्रह्मा बनकर चराचर विश्व की सृष्टि करने लगता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! यह आत्मा है क्या ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर ! आप निश्चय करके जान लें वह यह आत्मा ब्रह्म है। यह प्राणों में विज्ञानमय है। यह आत्मा मनोमय, प्राणमय, चक्षुमय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय, तथा सर्वमय है। जो भी कुछ प्रत्यक्ष परोक्ष है सब वही है।"

शौनकजी ने पूछा—"विज्ञानमय कैसे है ?"

सूतजी ने कहा—"विज्ञान बुद्धि को कहते हैं। बुद्धि तो जड़ है, किन्तु जब बुद्धि का आत्मा से संसर्ग हो जाता है, तो यह बुद्धिमय-बुद्धि से युक्त हो जाता है। यह विज्ञान धर्म वाला-सा प्रतीत होने लगता है।"

शौनक—"मनोमय कैसे है ?"

सूत—"वास्तव में आत्मा का मन से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु शरीर सम्बन्ध से मन की सन्निधि के कारण यह मनोमय सा प्रतीत होता है।"

शौनक—"प्राणमय कैसे है ?"

सूत—"जीवात्मा चैतन्य है, किन्तु शरीरों में प्राण क्रिया के साथ प्रवेश करने से और शरीर त्याग के समय प्राणों के साथ निकल जाने से यह प्राणमय-सा प्रतीत होता है।"

शौनक—"यह चक्षुमय कैसे है ?"

सूत—"चक्षु से और आत्मा से कोई तादात्म्य सम्बन्ध नहीं

है। शरीरों में जब यह चक्षु द्वारा रूपों का ज्ञान करता है, तब यह चक्षुमय कहलाने लगता है।"

शौनक—"यह श्रोत्रमय कैसे है ?"

सूत—"इसी प्रकार आत्मा का श्रोत्र से नित्य सम्बन्ध नहीं। जब यह शरीर में कानों के द्वारा शब्दों को सुनने लगता है, तो यह श्रोत्रमय सा हो जाता है। इसके शब्द श्रवण का श्रोत्र उपकरण है।"

शौनक—"यह आत्मा गन्धमय कैसे है ?"

सूत—"जब यह शरीर ससर्ग से घ्राणेन्द्रिय द्वारा गन्धों को सूंघने लगता है। तब यह घ्राणमय-सा हो जाता है।"

शौनक—"यह रसमय कैसे है ?"

सूत—"जब यह रसना द्वारा खट्टे, मीठे, चरपरे आदि षड-रसों का रसना द्वारा आस्वादन सा करने लगता है, तब वह रस-मय हो जाता है। इसी प्रकार मृदुल कठोरादि के स्पर्श से स्पर्श-मय हो जाता है।"

शौनक—"यह पृथ्वीमय कैसे है ?"

सूत—"स्थूल शरीर के कारण जीवात्मा पृथ्वीमय सा प्रतीत होने लगता है। पार्थिव देह के कारण भी।"

शौनक—"यह जलमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर में जो रक्त, वीर्य, श्लेष्म, मूत्रादि द्रवमय पदार्थ है, उनके कारण यह जलमय हो जाता है। जलीय शरीर धारण करने के कारण भी।"

शौनक—"यह वायुमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर में जो प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, कृकल, धनञ्जय, देवदत्त, नाग और कूर्म नाम के जो दश भीतर के प्राण हैं और बाहर की जो वायु भीतर जाती आती रहती है।

इन भीतर बाहर की वायु के कारण यह वायुमय कहलाता है, भूत प्रेतादि वायुमय शरीर धारण करने से भी।"

शौनक—"यह आकाशमय कैसे है ?"

सूत—"शरीर के भीतर उदरादि रिक्त स्थानों में जो अवकाश है इस कारण इसे आकाशमय कहते हैं। आकाशमय शरीर के कारण भी।"

शौनक—"यह तेजोमय कैसे है ?"

सूत—"सम्पूर्ण शरीर में जो पित्त के कारण उष्णता है, उस उष्णता से ही शरीर जीवित रहता है। जब उष्णता समाप्त हो जाती है, शरीर ठंढा पड़ जाता है। मृत कहलाने लगता है। इस आभ्यान्तर उष्णता के कारण ही यह तेजोमय है और देवतादि तेजोमय शरीरों के कारण भी।"

शौनक—"यह अतेजोमय कैसे है ?"

सूत—"बिना तेज के तो कोई शरीर ही नहीं। किन्तु तेज की न्यूनता अधिकता के कारण ही तेजोमय अतेजोमय शरीर होते हैं। जैसे जो दर्पण जितना ही निर्मल होगा उसमें आत्म दर्शन उतना ही स्पष्ट होगा। जो जितना ही मलिन होगा उसमें उतना ही प्रतिबिम्ब मलिन दिखायी देगा। इसी प्रकार देवतादि शरीर अत्यन्त दिव्य होने से तेजोमय शरीर कहलाते हैं। पशु पक्षी तथा नारकीय शरीर अदिव्य होने से अतेजोमय कहलाते हैं। जीवात्मा तेजोमय शरीरों में जाने से तेजोमय और अतेजोमय शरीरों में जाने से अतेजोमय कहलाता है।"

शौनक—"यह काममय कैसे है ?"

सूत—"जब जीव अज्ञान से विमोहित होकर कहता है यह मैंने किया, मैंने अपने शत्रुओं को मार डाला है, शेष जो बचे हैं, उन्हें भी मारूँगा। यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली है अन्य काम्य

वस्तुओं को मैं प्राप्त कर लूँगा। ऐसा जब अज्ञानी, योनियों में जाता है तब यह काममय हो जाता है।"

शौनक—"अकाममय यह कैसे है ?"

सूत—"ज्ञान प्राप्त होने पर कामनाओं मे दोष देखने के कारण जब कामनाओं से निवृत्त हो जाता है, तब यह अकाममय बन जाता है।"

शौनक—"क्रोधमय अक्रोधमय कैसे है ?"

सूत—"जब सर्प सिंहादि योनियों में जाकर कामना के विघात होने से यह अत्यन्त क्रोधमय बन जाता है। जब सर्व अनुकूल होने से युक्तावस्था प्राप्त होने पर सुखी हो जाता है तब यह अक्रोधमय हो जाता है।"

शौनक—"यह धर्ममय अधर्ममय कैसे है ?"

सूत—"जब धर्म मे प्रवृत्ति होने के कारण ब्राह्मणादि योनि मे धर्माचरण करने लगता है तब धर्ममय हो जाता है। इसके विपरीत जब श्वपच चाडालादि योनियों में अधर्म करने लगता है, तब अधर्ममय बन जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह आत्मा सर्वमय है जो भी कुछ इन्द्रियों द्वारा इङ्गित किये जाना इद मय है-प्रत्यक्ष है-और जो परोक्ष में संकेत से बताया जाने वाला अदोमय है, वह सब आत्मा ही आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। जिस समय जैसा आचरण करता है, यह वैसा ही बन जाता है। जब शुभ कर्म करता है तब पुण्यात्मा बन जाता है, पाप कर्म करने से यह पापात्मा कहलाता है। पुण्य और पाप के ही कारण पुण्यात्मा पापात्मा इसकी संज्ञा हो जाती है।"

इसी बात को कुछ लोग दूसरी प्रकार कहते हैं। उनका कहना है, यह पुरुष कामनामय ही है। जिन जिन की कामना करता है, उन-उन कामनाओं को प्राप्त करके उनके अनुरूप ही

सूतजी ने कहा—"लोकों मे गमनागमन तो कामनाओं के ही कारण हुआ करता है। जिसकी कोई कामना ही नहीं। जिसका कोई सकल्प ही नहीं ऐसा अकाम पुरुप निष्काम हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"निष्काम क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जिसके मन से अच्छी बुरी, धर्म अधर्म की समस्त कामनायें निकल गयी हैं, उसे ही निष्काम कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"निष्कामता कैसे होती है ?"

सूतजी ने कहा—"निष्कामता तृप्ति से होती है। जिसे गोरस यथेष्ट नहीं मिलता उसकी जिह्वालोलुपता बनी ही रहती है, पेट भरने पर भी उसका मन भाँति-भाँति की वस्तुओं पर चलता ही रहता है। जिसे यथेष्ट गोघृत, गोदुग्ध, गोदधि नवनीत आदि मिलते हैं। उसको यथेष्ट तृप्ति हो जाती है। उसकी जिह्वालोलुपता शान्त हो जाती है। इसी प्रकार अकाम निष्काम होने से पुरुप आप्तकाम हो जाता है। उसकी समस्त कामना ही परिपूर्ण हो जाती है, वह सब ओर से परितृप्त हो जाता है। उसे फिर किसी भी प्रकार की कामना नहीं रहती।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! शरीर रहते कामना न रहे यह सभव नहीं। कोई न कोई कामना तो रहती ही होगी ?"

सूतजी ने कहा—"हाँ, अकाम निष्काम पुरुप की भी एक कामना रहती है आत्मा की कामना। उसकी क्रीडा करने की कामना होती है, तो आत्मा के ही साथ क्रीडा करता है, उसकी रति की इच्छा होती है, तो आत्मा के साथ ही रति करता है, उसे स्पर्श की इच्छा होती है, तो ब्रह्म का ही स्पर्श करता है। जिसे भर पेट मिश्री खाने को मिल जाय, वह लौटा, गुड आदि समल पदार्थ खाने की इच्छा क्यों करेगा ? आत्मा के सदृश सुखद वस्तु अन्य कहीं है ही नहीं। इसीलिये ऐसा आत्मकाम

शरद जोशी

जन्म : 21 मई 1931, उज्जैन (म० प्र०)

शिक्षण : यहाँ वहाँ, पता नही कहाँ-कहाँ। अन्त मे होल्कर महावि इन्दौर से बी.ए.

आत्मक्रीड़ा, आत्मरति, आत्मस्पर्शा पुरुष फिर किसी प्रकार की कामना नहीं करता।"

शौनकजी ने पूछा—"ऐसा आत्मकाम पुरुष मरकर किस लोक मे जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"ऐसे आत्मकाम पुरुष के प्राण अन्य किसी भी लोक मे उत्क्रमण नहीं करते। वह ब्रह्म ही रह कर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् उसकी ससार चक्र से मुक्ति हो जाती है। वह आवागमन से रहित हो जाता है।"

सूतजी कहते हैं—मुनियो! अब मुक्ति के सम्बन्ध मे विशेप बातें मैं अगले प्रकरण में कहूँगा। आशा है आप इसे दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।

छप्पय

बहुतनि जिह सिद्धान्त काममय पुरुष कहावै।
करै कामना जसहिँ तसहिँ सोचै बनि जावै॥
होवै जस सकल्प करम–फल तैसे होवै।
जामें मन आसक्त पाइ फल पनि जग जोवै॥
कछु जाकें नहिँ कामना, आप्तकाम निष्काम वर।
आत्मकाम नहिँ काम कछु, ब्रह्म ब्रह्म ही प्राप्त नर॥

ब्रह्मवेत्ता का अनुत्क्रमण

[२५३]

तदेप श्लोको भवति। यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥*

(वृ० उ० ४ म० ४ ब्रा० ७…मन्त्राश)

छप्पय

होत कामना नाश अमृत जा जग ई होवै।
ब्रह्म प्राप्त तिहिं होइ सरप ज्यों केंचुल खोवै॥
केंचुल मृत-तन सरिस परी अहि मोह करै नहिं।
त्यों ज्ञानी है अमृत देह कूं फेरि भजै नहिं॥
'अमृत प्राण ही ब्रह्म है, वही तेज' सुनि जनक नृप।
कहैं—सहस धन देउँगो, आपु ब्रह्मवित द्विज अधिप॥

यह जो जन्म-मरण का चक्कर है ससार की ससृति है वह अज्ञान जन्य है। आवागमन अज्ञान में ही सम्भव है ज्ञान प्राप्त होने पर कहाँ जाना है न आना है प्रेम की वशी बजाते रहना। दो वस्तु

---

* इस विषय मे यह श्लोक है—जिस समय इस पुरुष के हृदय मे आश्रित समस्त कामनायें छूट जाती हैं, तो अब तक जो मर्त्यधर्मी कहलाता था, वह अमृत हो जाता है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष को इसी मे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

हैं, दोनों का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। शरीर है और शरीर के ढकने को वस्त्र हैं। वस्त्र पहिना ही व्यक्ति सुशोभित होता है, किन्तु वस्त्र शरीर नहीं हैं। शरीर के ढकने का उपकरण है। एक खड्ग है और जिसमे खड्ग रखी रहती है उसका एक कोश (म्यान) है। किन्तु कोश ही खड्ग नहीं। खड्ग मुख्य है, कोश उसे ढकने का उपकरण है। जैसे कोई पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्रों को धारण कर लेता है, तो पुराने वस्त्रों के लिये पश्चात्ताप नहीं करता। जैसे खड्ग के पुराने कोश को बदलकर नया कोश लगा लेता है, तो इससे खड्ग की तो कोई हानि नहीं होती। इसी प्रकार जीवात्मा पुराने-पुराने शरीरों का परित्याग करके नये शरीरों मे प्रवेश करे तो इसमे दुःख मनाने की क्या बात है? शरीर तो वासना के अनुसार–कामनाओं के कारण–शुभाशुभ कर्मों के फल के उपभोग के लिये धारण करने पड़ते हैं। जो वासनाहीन हो चुके हैं। जो सुख दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि द्वन्द्वों में सम हो चुके हैं। जिनके लिये अच्छे-बुरे का, खोटे-खरे का, अपने-पराये का कोई भेद ही नहीं रहा। उसे शरीर धारण करने की आवश्यकता ही क्या है। जो ब्रह्मभूत हो चुका है, जिसके लिये शोक करने का कोई कारण ही नहीं रहा, जो विशोक बन चुका है। जो सदा प्रसन्न ही बना रहता है। जो न तो किसी वस्तु के लिये चिन्ता ही करता है, न किसी वस्तु को प्राप्त करने की अभिलाषा ही रखता है जो सुख-दुखादि द्वन्द्वों से सदा रहित हो गया है, जो तीनों गुणों से ऊपर उठकर निर्गुण नित्य सत्त्व में ही वर्तमान रहता है। जिसे अपने योगक्षेम की अणुमात्र भी कभी-स्वप्न में भी–चिन्ता नहीं रहती ऐसा अकाम, निष्काम, आप्तकाम तथा आत्मकाम आत्मवान् ज्ञानी पुरुष पुनः शरीर धारण किसलिये करेगा? क्यों वह माता के

र्भवास का क्लेश उठायेगा ? वह तो ब्रह्मवित् है, ब्रह्मवित् तो ह्म के समान ही हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! आप्तकाम ब्रह्मवेत्ता को पुनः रीर धारण नहीं करना पड़ता। वह ब्रह्म के समान ही अमृत-प्रजर अमर हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता पुरुष के सम्बन्ध में एक प्रति प्रसिद्ध प्राचीन मन्त्र है। उसका भाव यही है कि साधारण रुषों के हृदयों मे नाना प्रकार की कामनायें उठती रहती हैं। जिस समय हृदयगत समस्त कामनायें जिस पुरुष की नष्ट हो जाती हैं, तब फिर वह पुरुष मरणधर्मा नहीं रहता। इस पृथ्वी लोक को मृत्युलोक कहते हैं। इसमें जीव मरते हैं और जन्म लेते हैं, अतः इस लोक के प्राणी–मर्त्य-मरणधर्मा मृत्युशील–कहलाते हैं। मरना और जन्मना कामनाओं-वासनाओं–शुभाशुभ कर्मों के फलों के उपभोगों–के ऊपर निर्भर है। जब कामनायें छूट गयीं, तो जन्म-मृत्यु का चक्कर भी छूट गया। फिर उसे ब्रह्म प्राप्ति के निमित्त अन्य शरीर धारण नहीं करना पडता। उसको इसी लोक में इसी शरीर से ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है। उसे फिर इस शरीर में तनिक भी मोह नहीं रहता।"

शौनकजी कहा—"सूतजी ! बहुत दिन एक घर मे रहते हैं, तो उस घर की दोवालों से भी मोह हो जाता है, वो ज्ञानी इतने वर्षों इस शरीर मे रहा है। इसमें रहकर नाना साधन किये हैं, फिर इसे त्यागते समय मोह क्यों नहीं होता ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मोह तो अज्ञान जन्य है। जब ज्ञान हो गया तब भला मोह कैसे रह सकता है। अन्धकार तो तभी तक रहता है जब तक ज्ञान रूप सूर्य उदय न हो। सूर्य के उदय होने पर लाठी लेकर अन्धकार को भगाना नहीं पडता वह तो स्वतः ही विलीन हो जाता है। इसी प्रकार ज्ञान होने पर

देह का मोह कैसे रह सकता है। देखिये, सर्प के शरीर पर ऊपर की खाल चढ़ी रहती है। ऊपर की खाल पक जाने पर सर्प ऊपर की खाल को—केंचुल को—छोड़कर चला जाता है। उससे तनिक भी मोह नहीं करता। ज्ञानी के लिये यह शरीर सर्प के केंचुल के ही सदृश है। आत्मा शरीर नहीं है, वह तो अशरीर है। अमृत है प्राण ही ब्रह्म है, वही तेज है। क्यों है न ?"

जनक ने कहा—"भगवन्! आपने मुझे अमृत ब्रह्म का उपदेश दिया, मैं उसके उपलक्ष्य में दक्षिणा स्वरूप आपके श्री चरणों में सहस्र गौएँ अर्पण करता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! संसार मे पुनः-पुनः प्राप्त कराने वाली सांसारिक विषय भोगों की कामनायें ही हैं, जो ब्रह्मवेत्ता है, उसे संसार मे पुनः आना नहीं पड़ता। वह तो संसार के बन्धन से—सदा-सदा के लिये—मुक्त हो जाता है। इस विषय में प्राचीन काल से एक सूक्ति—मन्त्र रूप में—चली आती है उसका भाव यह है कि "*ज्ञानमार्ग कोई नूतन मार्ग नहीं। यह* सनातन पथ है और अत्यन्त ही सूक्ष्म है। यह संकुचित न होकर महान् विस्तृत पथ है। इसकी छोटी सीमा नहीं परम विस्तीर्ण है। यह ब्रह्म का मार्ग है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म का स्पर्श करता है। ब्रह्म स्पर्श का फल ज्ञान की प्राप्ति है। अतः ब्रह्मस्पर्श का फल साधकज्ञान ब्रह्मवेत्ता ने प्राप्त कर लिया है। *ब्रह्मवेत्ता धीर पुरुष को इसी शरीर से इसी लोक में मुक्ति का* आनन्द प्राप्त हो जाता है। जैसे पुण्यात्मा पुरुषों को मरकर ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पापात्मा पुरुषों को मरकर ही नरक प्राप्ति होती है, वैसे ब्रह्मवेत्ता को मरकर ही मुक्ति सुख मिलता हो, सो बात नहीं। उसे तो इसी लोक में जीते—जी ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, जीते हुए ही वह जीवन्मुक्त बन जाता है। तदनन्तर

वह शरीर त्यागकर स्वर्गलोक को–परब्रह्म परमात्मा के लोक को–प्राप्त होते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! स्वर्गलोक का तो अर्थ देव लोक है, फिर आप भगवल्लोक क्यों बता रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! स्वर्ग लोक का अर्थ देवलोक तो है ही। कहीं-कहीं स्वर्ग लोक भगवल्लोक के अर्थ में भी व्यवहृत होता है, जैसे पीछे कठोपनिषद् में यमराज से नचिकेता ने कहा था—"स्वर्ग लोक में किंचित् भी भय नहीं है। वहाँ पर हे यम-राज ! तुम्हारी भी दाल नहीं गलती, वहाँ वृद्धावस्था भी किसी को नहीं डराती। स्वर्गलोक में रहने वाले पुरुष क्षुधा पिपासा इन दोनों को पार करके शोक रहित होकर परम आनन्द का उप-भोग करते हैं।" यहाँ स्वर्ग से अभिप्राय मुक्ति से ही है। स्वर्ग तो क्षयिष्णु लोक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! मुक्ति मार्ग कैसा है ? इसका वर्ण कौन सा है ?"

सूतजी ने कहा—"मुक्ति मार्ग के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मुनियों के भिन्न भिन्न मत हैं। पीछे छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है—"निश्चय ही ये सूर्य पिङ्गल हैं, शुक्ल वर्ण हैं, कृष्ण रक्त तथा पीत वर्ण हैं।" इस प्रकार कोई शुक्ल वर्ण बताते हैं कोई नील, पिङ्गल, हरित तथा लोहित कहते हैं। वास्तव में देखा जाय, तो ये वर्ण तो नाडियों में भरे विभिन्न रसों के वर्ण हैं। यह ब्रह्ममार्ग तो साक्षात् ब्रह्म द्वारा अनुभूत है। उस ब्रह्ममार्ग से सब कोई नहीं जा सकते। जिन्होंने तपस्या, यज्ञादि पुण्य कर्मों द्वारा अपने समस्त पापों को जला दिया है, जिनका अन्तःकरण परम पावन, निर्मल बन गया है ऐसे क्षीण पाप पुण्यात्मा पुरुष

ही परमात्म तेजस्वरूप ब्रह्ममार्ग से जाते हैं, वे ब्रह्मवित् कह लाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! लोक में दो ही निष्ठायें हैं कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा जिसे अविद्या निष्ठा और विद्या निष्ठा भी कहते हैं। इसी को ग्रहण मार्ग और त्याग मार्ग भी कहते हैं त्रयी विद्या कर्मकाण्ड द्वारा यज्ञयाग करते हुए इष्टापूर्तादि कर्मों को करना इसे अविद्या बताया है। कर्मों को बन्धन का कारण समझकर सब कर्मों का परित्याग कर देना इसे विद्या बताया है। आप के मत में अविद्या मार्ग कर्मकाण्ड मार्ग-मोक्ष का प्रधान साधन है या कर्मत्याग विद्यामार्ग मोक्ष का मुख्य साधन है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! आपका कथन यथार्थ है। पीछे मुण्डकोपनिषद् में कर्मकाड-अविद्या-को अदृढा नौका कहा है। यज्ञों में कर्मों का बड़ा भारी विस्तार होता है। इस देश में सत्य, त्रेता और द्वापर युगों में सर्वत्र यज्ञों का ही विस्तार होता था। बड़े बड़े राजसूय, अश्वमेध, वाजपेय श्रोत्रस्मार्त यज्ञ स्वर्ग की कामना से किये जाते थे। बड़े बड़े यज्ञों में होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा ये चार प्रधान ऋत्विज् हुआ करते थे जो क्रमशः ऋक्, यजु, साम तथा अथर्वादि चारों वेदों के ज्ञाता होते थे। उन चारों के ३-३ सहायक-उपऋत्विज् होते थे। उनके नाम प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणच्छंसी, प्रस्तोता, अच्छावाक, नष्टा, आग्नीध्र, प्रतिहर्ता, ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य। इस प्रकार चार मुख्य और बारह सहायक ऐसे सोलह ऋत्विज् बड़े यज्ञों में मुख्य होते थे ये यज्ञ कराने वाले थे और यजमानी सहित यजमान ये यज्ञ करने वाले होते थे। मुख्य अठारह व्यक्तियों से सम्पन्न होने के कारण यज्ञों को 'अष्टादशोक्तम्'

कहा गया है। ससार रूप समुद्र को पार करने को इस अठारहों द्वारा सम्पन्न होने वाले कर्म को नोका बताया। किन्तु यह नौका दृढ नहीं है। कभी उस पार भी कर सकती है कभी बीच में डुवा भा सकती है। क्योंकि ये जो यज्ञादि कर्म हैं स्वर्गादि लाकों की कामना स ही किये जाते हैं इसलिये ये वर-श्रेष्ठ-न होकर अवर हैं। जो मूढ पुरुष हैं वे ही केवल यज्ञादि कर्मकाण्ड की प्रशसा किया करते हैं। इन्हे ही श्रेयमार्ग-कल्याण पथ-साधन मानत हैं, किन्तु वास्तविक बात यह है कि उपासना रहित केवल ये त्रयीमय सकाम कर्म केवल स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति के ही हेतु होत हैं। इनसे जरा और मृत्यु का नाश नहीं होता ये बार बार मनुष्य लोक मं जन्म और मरण का कारण होते हैं। अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर फिर मर्त्य लोक मे ढकेल दिये जाते हैं। अत. उपासना रहित केवल सकाम कर्म अविधा स्वरूप हैं इसके करने वाले एक प्रकार से अन्धतम नाम के लोकों में प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन्हें ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि सकाम कर्म तो अज्ञान के-मोह के-द्योतक हैं।"

अच्छा, जब वेदत्रयी विहित कर्म अज्ञान के द्योतक हैं अविद्या हैं, तो कर्मों का त्याग तो विद्या मार्ग है। पञ्चयज्ञ, नित्य नैमित्तिक समस्त कर्मों का त्याग तो फिर विद्या मार्ग हुआ सब कर्मो का परित्याग करक ही विचरण करे। इस पर कहते हैं। केवल कर्मों का त्याग करन से भी काम न चलेगा। क्योंकि अन्त करण की शुद्धि हुए विना केवल शास्त्र विहित नित्य नमित्तिक कर्मो का त्याग करके सन्यासी का वेप बना लेना यह सभव नहीं। जिसके पोडश सस्कार नहीं हुए, जिसन शास्त्र विधि से अग्निहोत्र का दीक्षा लकर अग्नि सेवन नहीं किया-आहिताग्नि नहीं बना-उसके त्याग का अर्थ क्या हुआ? अग्नि का त्याग तो

वही कर सकता है, जिसने चिरकाल तक विधिवत्
किया हो। जो संन्यास की केवल प्रशंसा सुनकर मोहवश
कर्मों का परित्याग करके अपने को विद्यारत
करके संन्यासी का मिथ्या वेप बना लेते हैं। उनका वह त्याग
तामस त्याग कहलाता है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी ने
गीतोपनिषद् में कहा है। ऐसे मिथ्याज्ञानी-विद्यारत पुरुष-
यवनों जाल्मों-की भाँति शिखा सूत्रों का परित्याग करके
को विद्यारत बताते हैं, वे उन केवल कर्मकाण्ड में रत मूढ़ों से भी
अधिक घोर अन्धकारमय निकृष्ट नरकों में जाते हैं। इसलिये जो
केवल कर्मकांड मे रत सकामी पुरुष हैं, वे ब्रह्मज्ञान से हीन हैं
अविद्योपासक हैं और जिन्होंने अन्तःकरण की शुद्धि के पूर्व ही
मोहवश वेद विहित कर्मों का आलस्य प्रमादवश परित्याग कर
दिया है ऐसे विद्योपासक-मिथ्यात्यागी-अबुध हैं इन दोनों ही
की दुर्गति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"इन लोगों को कौन-से लोकों की प्राप्ति
होती है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति कहती है उन्हें
अनन्दा-सुख रहित लोक प्राप्त होते हैं जो सदा अन्धकार से
आवृत रहते हैं। ब्रह्मज्ञान शून्य और अबुध पुरुष मरकर उन
अनन्दा लोकों मे बार-बार आते जाते रहते हैं। इन दोनों की ही
ससार के आवागमन से मुक्ति नहीं होती।"

शौनकजी ने पूछा—' सूतजी! मिथ्याज्ञानी मोहवश त्याग का
ढोंग रचने वाले नरकादि लोकों में जायँ, यह तो उचित ही है,
किन्तु जो वेद विहित यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हैं, चाहें वे कर्म
सकाम ही क्यों न हों, उनकी निन्दा क्यों की गयी ?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! आप ही सोचिये यज्ञादि कर्म

करने मे जो वे इतना क्लेश उठाते हैं, वे किसलिये ? इसलिये कि मरने के अनन्तर हमें इस यज्ञ के फल स्वरूप स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति हो। स्वर्ग मे क्या है ? जो इस लोक मे आहार, मेथुनादि सुख हैं, वे ही सुख इन मर्त्यलोक के सुखों से उत्कृष्ट-दिव्य-हमें स्वर्ग मे भी प्राप्त हो। ये आहार मेथुनादि सुखो से आत्मा का तो कोई सम्बन्ध है नहीं। आत्मा तो स्वय आनन्द स्वरूप है। ये सुख तो देह को इन्द्रियों को अन्तःकरण को होते हैं। यदि पुरुष इस बात को जान ले, कि आत्मा देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, अन्तःकरण नही, प्राण नहीं। आत्मा तो इन सबसे विलक्षण है। और वास्तविक सुख आत्मसुख ही है, तो फिर किस फल की इच्छा के लिये इतना प्रपञ्च करे। फिर किस कामना से शरीर को सतप्त करेगा। आत्मा तो स्वय ही निरतिशय आनन्द स्वरूप है। आत्मज्ञानी पुरुष इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर सुख का इच्छा क्यों करेगा ?"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जब तक आत्मा का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक शरीर को ही सुखी बना ले, शारीरिक सुखों का ही उपभोग कर ले, इसमें क्या बुराई है ?"

हसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप भी ऐसी बात कहेंगे क्या ? किसी का भी शरीर कभी पूर्ण सुखी हो सकता है क्या ? शरीर तो कभी सुखी हो ही नहीं सकता। कोयले को कितना भी धोइये उसका कालिख छूटने की ही नहीं, क्योंकि काला होना उसका नैसर्गिक स्वभाव है। सुख तो आत्मा का धर्म है। शरीर तो अनेकों अनर्थ का कारण है। इस शरीर सुख की इच्छा ने ही तो शरीर में स्थित आत्मा के विवेक-विज्ञान को दबा रखा है। जो पुरुष इस बात को भली भाँति जान गया है कि खड्ग और कोश की भाँति आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न

अज्ञानी की दुर्गति और ज्ञानप्राप्ति के साधन

[२५४]

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥*
(बृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० १४ म०)

छप्पय

तन में रहतहिं आत्म ज्ञान तब होइ कृतारथ।
नहिं जाने यदि आत्म होइ तब हानि यथारथ॥
जानि अमृत बनि जायँ दुःख अनजाने पावैं।
भूत भव्य ईशान जानि जीवनि न सतावैं॥
सवत्सर को चक्र यह, ज्योतिनि ज्योति अमृत सतत।
'आयु' नामतें देवगन, ताहि उपासन नित करत॥

इस पुरुष का ससार मे आने का अर्थ--प्रयोजन क्या है ? इस ससार में आकर पुरुष को क्या क्या करना चाहिये ? क्या न करना चाहिये, इसका विचार करने के पूर्व पहिले इस बात पर विचार

---

* हम लोग यदि इस आत्मा को शरीर म रहते हुए ही जान लेते हैं तब तो ठीक है, यदि उसे नहीं जान पाते तो बड़ा अनर्थ हो जाता है। इसे जिन्होंने जान लिया वे तो अमृत हो गये और इसके विपरीत जिन्होंने इसे नहीं जाना वे दुःख के भागी बन गये।

ते कि यह शरीर मिलता क्यों है ? यह शरीर पूर्वजन्मों के
गो को भोगने के लिये और ससार चक्र से बाहर होने के
ये मिलता है। हमारे जन्मजन्मान्तरो के सञ्चित कर्मों में स
क जन्म मे भोग भोगने को जो कर्म मिलते हैं उन्हे प्रारब्ध कर्म
हते हैं। प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोगो को भोगने से ही होता है।
ञ्चित और क्रियमाण कर्म तो ज्ञान हो जाने पर तत्काल इस
कार सबके सब नष्ट हो जाते हैं जैसे बड़े भारी रुई के ढेर मे
क चिनगारी आग डालने से वह सम्पूर्ण ढेर जलकर भस्म हो
ाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्म ज्ञान हो जाने पर भी भोगने पडत
। जीवन्मुक्त पुरुष को भी प्रारब्ध कर्मों का भोग भोगना पड़ता
। यह दूसरो बात है, वह अभिमान शून्य होकर भोगता है।

इससे सिद्ध यही हुआ कि प्रारब्ध कर्मों का क्षय करना और
स ससार क चौरासी के चक्कर से पृथक् होना इसी का नाम
ुरुषार्थ है। जीव जन्मजन्मान्तरों से मिथुन–जोडा–होता आया
। बिना मिथुन के बिना दो के–सृष्टि नहीं। मिथुन तो पशु-
क्षी और अज्ञ पुरुष भी होते हैं, किन्तु उनका मिथुन होना
न्धन का हेतु है। मिथुन बन्धन को काट सकने वाला जिस
पाय से हो उसे धर्म कहते हैं। धर्मपूर्वक अर्थ प्राप्त किया
जाय, धर्मपूर्वक विवाह करके मिथुन हुआ जाय, यही पुरुष का
ुरुषार्थ है। अर्थात् धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ माने
हैं। जन्मजन्मान्तरों के संस्कारों के कारण जीव की कामोपभोग
की अभिलाषा स्वाभाविक है। जिसे काम भोग की इच्छा नहीं
रह तो जीवन्मुक्त है। किन्तु ये कामनायें पशु पक्षियों और अज्ञ
ुरुषों को भाँति अनियमित न हों। कामनायें जिस उपाय से
नियमित रहें उसी का नाम धर्म है। अर्थात् काम का उपभोग
ुरुषार्थ कब है, जब वह काम धर्मपूर्वक किया जाय। अर्थ

पुरुपार्थ कब है, जब वह धर्मपूर्वक किया जाय। धर्म कार्य किस अर्थ से सम्पन्न किये जायँ, जो धन धर्मपूर्वक न्यायोचित मार्ग से अर्जित हो। वैसे तो पशु-पक्षी तथा अज्ञपुरुष भी कामोपभोग करते ही हैं, कुछ-न-कुछ अर्थ का भी संचय करते हैं, किन्तु उनके काम और अर्थ पुरुपार्थ नहीं कहे जाते, क्योंकि वे धर्मपूर्वक अर्जित नहीं हैं। धर्म का अर्जन तो मनुष्य शरीर में ही सम्भव है। इसीलिये मनुष्य का दूसरा नाम साधक है। साधक का अर्थ क्या है? जो मोक्ष के लिये साधना करे। अर्थात् जिसके धर्म अर्थ और काम ये तीनों साधन मोक्ष के ही लिये हों। इससे सिद्ध हुआ धर्म, अर्थ और काम ये तीन तो पुरुपार्थ हैं और मोक्ष परम पुरुपार्थ है।

कुछ लोग कहते हैं—"अजी, हम तो मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते, हम तो मोक्ष मिले तो उसे ठुकरा देते हैं। इससे पता चलता है मोक्ष धर्म, अर्थ और काम के सदृश पदार्थ है। वास्तविक बात ऐसी नहीं। मोक्ष न तो पृथ्वी पर कोई पदार्थ है, न आकाश में है, न पाताल में। सभी प्रकार की आशाओं के मोह ममता के-क्षयका--नाशका -नाम मोक्ष है। मन में से विषय भोगों की आशा निकल गयी, मोह का क्षय हो गया। उसी स्थिति का उसी वृत्ति का -नाम मोक्ष है। मोक्ष कोई पदार्थ नहीं अन्तःकरण की आशा-मोह ममता रहित स्थिति का नाम मोक्ष है। जिसने मानव शरीर पाकर मोक्ष की पदवी प्राप्त कर ली, उसका पुरुष होने का अर्थ--प्रयोजन- सिद्ध हो गया। जिसने मानव शरीर पाकर भी पशुओं की ही भाँति विषयों के ही भोग में ही समय बिता दिया उसने अपना सर्वस्व नष्ट कर लिया। अतः प्राणी को मोक्ष के ही लिये प्रयत्न करना चाहिये। परधर्म अपनाना, परधन को अपनाना, परदारा को अपनाना ये महापाप है।

स्वधर्म में स्थित रहना, जो न्यायपूर्वक प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, अपनी ही दारा में शास्त्रोक्त विधि से रति करना ये महापुण्य है। पाप-पुण्य से परे हो जाना इसी का नाम मोक्ष है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! तत् शब्द परब्रह्म का वाचक है। ॐ तत् सत् ये तीनों ब्रह्मवाचक शब्द हैं। जिन्होंने तप द्वारा अपने शरीर को तपाया नहीं—अर्थात् जिन्होंने तप स्वाध्यायादि नहीं किया वह तत् उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। तद् उस ब्रह्म का प्रसिद्ध नाम है, वही एकमात्र भजनीय है, अतः उस तत् को वन भी कहते हैं। वह ब्रह्म जो तत् के नाम से सर्वत्र कहा गया है, यदि मानव शरीर प्राप्त करके भी हमने उस तत् ब्रह्म को जान लिया है, उसका बोध प्राप्त कर लिया है, तब तो हमने मनुष्य जन्म लेने का पूर्ण फल प्राप्त कर लिया है। यदि मानव शरीर धारण करके भी उस आत्मतत्व से अनभिज्ञ ही रहे। उसका सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त नहीं किया तब तो हमने मानों अपना सर्वस्व नाश ही कर दिया। जीवन में सबसे बड़ी हानि प्राप्त कर ली।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! उस आत्मतत्व के ज्ञान से क्या होता है।"

सूतजी—"भगवन्! होता क्या है, यह मृत्युधर्मा—मर्त्य-प्राणी—मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर बन जाता है। वह मोक्ष की पदवी को प्राप्त कर लेता है।"

शौनक—"अच्छा, मनुष्य शरीर पाकर भी जो लोग आत्म-ज्ञान से वंचित रह जाते हैं, उन्हें क्या प्राप्त होता है?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"उन्हें प्राप्त क्या होता है, वे तो गँवा देते हैं, घाटे में रहते हैं। उन लोगों को तो संसारचक्र में घूमने से नाना प्रकार के दुःखों की ही प्राप्ति होती है।"

शौनकजी ने पूछा—"उस आत्मा का साक्षात्कार कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"तत्" नाम वाले उस परब्रह्म के ज्ञान के निमित्त श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में यथाशक्ति समिधा आदि पूजा की सामग्री लेकर जाय, वहाँ जाकर उनको साष्टांग प्रणाम करे, उनकी सेवा करे, उनसे श्रद्धापूर्वक प्रश्न करे, तब उनकी कृपा से उन भूत, भविष्य के अधिपति देवाधिदेव परमात्मा को पुरुष जब जान लेता है तब वह सबमें आत्मा को देखने लगता है, फिर वह किसी की निन्दा नहीं करता। क्यों नहीं करता ? इसलिये कि वह सभी को अपनी आत्मा समझने लगता है। जब सब अपनी ही आत्मा हैं तो अपने आप अपनी निन्दा कौन करेगा ? ब्रह्म साक्षात्कार से ही पुरुष निर्भय हो जाता है वह सभी में आत्मा को देखता है। उसी ब्रह्म को देवतागण 'आयु' इस नाम से उपासना करते हैं।"

. शौनकजी ने पूछा—"देवगण उस परब्रह्म को आयु क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"आयु सभी चाहते हैं। आयु का अर्थ जीवन है। जीवन की इच्छा सभी को है। वह कालस्वरूप है। घटी पल, प्रहर से दिन-रात्रि होते हैं। १५ दिन का पक्ष, दो पक्ष का मास, दो मास की ऋतु, छैः ऋतुओं का सम्वत्सर। यह सम्वत्सर नाम का काल अपने अवयव दिन-रात्रि आदि के साथ जिस परमात्मा का चक्कर लगाता रहता है, और जो कालस्वरूप प्रभु सूर्य आदि जितने ज्योतिष्मान हैं, उनकी भी जो ज्योति है जो अमृत स्वरूप है सबका जीवनाधार है, उस परब्रह्म प्रभु की 'आयु' इस नाम से स्वर्गीय देव उपासना करते हैं। वही अमृत ब्रह्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"अमृत क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो मरणधर्म से रहित हो। जिसमें पञ्चजन प्रतिष्ठित हो, और आकाश भी जिसमें प्रतिष्ठित हो, वही आत्मा अमृत है, और उसे जानने वाला आत्मनिष्ठ पुरुष भी अमृत है।"

शौनकजी ने पूछा—"पाँच पञ्चजन कौन-कौन हैं ? और आकाश से तात्पर्य क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"पाँच ज्ञानेन्द्रियों को ही पंचजन कहते हैं। अथवा देवता, गन्धर्व पितर, असुर और राक्षस इनकी भी पंचजन संज्ञा है, अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम वनवासी आभीर या निषाद इन पाँचों को भी पंचजन कहते हैं। ये पाँचों जिसमें प्रतिष्ठित हैं और आकाश शब्द से पाँचों भूत जिनमें प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जगत् जिसमें प्रतिष्ठित है, वही परब्रह्म परमात्मा अमृत है और उसका ज्ञाता भी अमृत है, क्योंकि ब्रह्मवित् ब्रह्म ही हो जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"उस ब्रह्म की परिभाषा तो बताइये ?"

सूतजी—"उसकी कोई परिभाषा नहीं। वह परिभाषा से परे हैं। परिष्कृत भाषण को-संकेत, शैली या प्रज्ञप्ति को परिभाषा कहते हैं। जब वेद भी जिसे नेति नेति कहकर पुकारते हैं उसकी पूर्ण परिभाषा करना सम्भव नहीं। तथापि जिन प्राणों के कारण पुरुष प्राणी कहाता है वह उस प्राण का भी प्राण है। जिस नेत्र के द्वारा चराचर को पुरुष देखता है, उस नेत्र को भी नेत्रत्व प्रदान करने वाला वह है। जिस श्रोत्र से पुरुष सब कुछ सुनता है, उस श्रोत्र का भी श्रोत्र वह है। जिस मन के द्वारा पुरुष लोक-परलोक की बातों का मनन करता है, उस मन का भी वह मन है। इस प्रकार जो लोग उसे समस्त ज्ञान के साधनों का भी

प्रधान कारण मानते हैं वे ही उस सनातन, अति प्राचीन सबसे श्रेष्ठ ब्रह्म को जानते हैं, वे ही ब्रह्मविद् कहलाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"फिर भी उसे प्राप्त करने का कुछ साधन तो होगा ही। उसे प्राप्त करने का सरल साधन बतावें ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! श्रुति कहती है। सबसे पहिले तो समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य की शरण में जाय। आचार्य जो उपदेश करें, उसे मन से ही—एकाग्रचित्त से ही एकान्त में बैठकर मनन करे। उसे शरीर से नहीं इन्द्रियों से नहीं मन से ही देखे। एक बात और है, ब्रह्म एक ही है इसमें नानात्व नहीं है। जो इसमें नानापन को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, अर्थात् वह अमर नहीं होता। मरण-धर्मी मर्त्य ही बना रहता है। इसलिये आचार्य द्वारा उपदिष्ट उस ब्रह्म को एक प्रकार से देखना चाहिये उसमें अन्तर नहीं देखना चाहिये। उसकी कोई प्रमा नहीं वह ब्रह्म अप्रमेय है, वह कभी नहीं है सो बात नहीं वह ध्रुव है, उसमें किसी प्रकार का मल नहीं वह निर्मल है सबसे अधिक सूक्ष्म आकाश है वह इस आकाश से भी सूक्ष्मतर है। उसका कभी जन्म नहीं होता, वह अजन्मा है, वह सर्वत्र विद्यमान है अतः आत्मा है। वह बड़े से भी बड़ा सबसे बड़ा है अतः महान् है और उसका तीनों कालों में कभी नाश नहीं होता, अतः अविनाशी है।"

शौनकजी ने पूछा—"उसका ज्ञान करने के लिये कौन-कौन से शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! शास्त्रज्ञान तो अन्तःकरण की शुद्धि के निमित्त है। जब अन्तःकरण विशुद्ध बन जाय। उसमें ब्रह्म की झलक दिखायी देने लगे, तो धीर गम्भीर प्रज्ञाशाली पुरुष को श्रवण मनन द्वारा उसी को बारम्बार जानना चाहिये।

उसी में अपनी पूरी प्रज्ञा लगा देनी चाहिये। उसके अतिरिक्त बहुत से शब्दों का अनुध्यान करना, बहुत सी बातों का निरन्तर चिन्तन करते रहना उचित नहीं। अतः ब्रह्म के अतिरिक्त इधर-उधर की बातों का चिन्तन न करे, क्योंकि वह तो केवल वाणी का विलासमात्र ही है। व्यर्थ ही वाणी को श्रम पहुँचाना है। अतः ब्रह्म विचार के अतिरिक्त अन्य बातों का विचार करे नहीं। आत्मविषयक शास्त्रों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों का अध्ययन मनन न करे।"

शौनकजी ने पूछा—"जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है उस आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति कैसी होती है?"

सूतजी ने कहा—"मुनिवर! आत्मस्वरूप की उपलब्धि के साधन सहित आत्मज्ञ पुरुष की स्थिति के सम्बन्ध में मैं आगे बताऊँगा।"

छप्पय

(१)

पाँच पचजन और प्रतिष्ठित जामें नभ है।
है आत्मा परब्रह्म अमृत तिहि जानि अमृत है॥
चक्षुनि को जो चक्षु प्राण को प्राण कहावै।
श्रोत्रनि को हू श्रोत्र वही मन को मन भावै॥
इहि विधि जाने जे पुरुष, वा ई ब्रह्म पुरातनहिँ।
जो सबतैं आगे रहत, ते जानत हैं वास्तवहिँ

(२)

मनही तैं तिहि लखो नहीं नाना है किंचित ।
जे नानापन लखैं मृत्यु तैं मरैं न तिहि हित ॥
लखौ एकधा ताहि करो गुरु चरन दण्डवत ।
अप्रमेय, ध्रुव ब्रह्म परम निरमल अकाशवत ॥
सूछमतैं हूँ सूक्ष्म वह, जनम मरन तैं रहित नित ।
अति महान आत्मा सतत, अविनाशी है परम सत ॥

ब्रह्म और ब्रह्मज्ञ के स्वरूप का वर्णन याज्ञवल्क्य जनक सम्वाद समाप्त

(२५५)

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभय९ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद॥*

(वृ० उ० ४ अ० ४ ब्रा० २५ मं०)

छप्पय

धीर ब्रह्मविद जानि करैं प्रज्ञातिहि में रति ।
बहु शब्दनि अनुध्यान न करि वाणी श्रम है अति ॥
आत्मा जनम न लेइ वही विज्ञान प्राण गति ।
सोवै हृदय अकाश वशी शासक सबको पति ॥
शुभ करमनि तैं नहिं बढ़त, घटै अशुभ करि नहिं कबहुँ ।
सरबेश्वर भूतनि अधिप, पालक धारत जग तबहुँ ॥

जो जिसमें रहता है, वह वैसे ही गुण वाला हो जाता है। जल में रहने वाले जीव जलमय ही होते हैं, उन्हें जल से पृथक्

---

* वह जो यह आत्मा है, महान् है । अज, अजर, अमर, अमृत तथा अभय है, वही ब्रह्म है । अभय को ही ब्रह्म कहते हैं । जो इस तत्व को ऐसे जानता है, वह भी अभय ब्रह्म हो जाता है ।

कर दो, तो उनका जीवन दुर्लभ हो जाता है। अग्नि में भी जीव हो जाते हैं, वे अग्निमय होते हैं, उन्हें अग्नि से पृथक् कर दो, तो वे मर जाते हैं। यह शरीर दुःख शोक का स्थान है। मलायतन है, अर्थात् इसके भीतर मल ही मल भरा हुआ है, नौ द्वारों से सदा मल ही निकलता रहता है, लाखों रोयों से श्वेद रूप में मल ही तो निकला है। इस मलायतन दुःख शोक की खानि शरीर में जिन्होंने आत्मबुद्धि कर रखी है, इसी में मोह ममता स्थापित कर ली है, वे सदा क्लेश ही उठाते रहते हैं। जिस लोक में भी जायँगे, वहाँ भय बना रहेगा। जिस स्वर्ग को सुखों की खानि कहते हैं, उसमें भी सदा पतन का भय बना रहता है। वहाँ भी अपने से अधिक भोग वाले को देखकर डाह–ईर्ष्या–जलन होती है। दुःख का कारण ईर्ष्या तथा भय ही तो हैं। जो देहाभिमानी पुरुष है उसे कहीं भी शान्ति नहीं। क्योंकि देह दुःखों का आलय और अशाश्वत है। यह आने जाने वाला है अनित्य है। इसमें रमण करने वाले को नित्य सुख कहाँ है ? अतः शरीर में रमण करने वाला मर्त्य है। मरणशील है वह संसारचक्र में पड़कर जनमता और मरता रहेगा।

इसके विपरीत जो आत्मा में रमण करने वाले हैं। आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाले हैं, वे आप्तकाम हैं। उन्हें समस्त कामनायें प्राप्त हो चुकी हैं। क्योंकि आत्मा नित्य है, सत्य है, चैतन्य स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप है। जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया, आत्मा को जान लिया, आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया वह जन्म-मृत्यु के चक्कर से सदा-सदा के लिये छूट जाता है, क्योंकि आत्मा अमृत है, आत्मा नित्य है, आत्मा शाश्वत है, आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, अखिल, अगोचर तथा अनादि है। आत्मा ब्रह्म है, अतः ब्रह्म को जानने वाला उसी के समान ब्रह्म

हो जाता है। आत्मा अमृत है अतः ब्रह्मज्ञानी अमृत हो जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आत्मा सकुचित नहीं, क्षुद्र नहीं, सामित नहीं, परिधि में स्थित नहीं वह महान् है। आत्मा की संसारी अन्य पदार्थों के समान उत्पत्ति नहीं होती। उसका जन्म नहीं होता वह अजन्मा है। वह जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहने से, तथा सर्वत्र व्याप्त रहने से आत्मा है (अतति सन्तभावेन जाग्रदादि सर्वावस्थासु अनुवर्तते=इति-आत्मा) वह प्राणों में-स्पर्शेन्द्रिय में-वायु में-विज्ञानमय है। वह हृदयकमल के मध्य जो कर्णिका है उसमें जो गगनगुफा है उसी आकाश में उसका निवास है। उसी में वह तान दुपट्टा पैर फेलाकर सोता रहता है। सुख का अनुभव करता रहता है। वह किसी के वश में नहीं है अपितु सभी उसके वश में हैं। वह किसी के शासन द्वारा शासित नहीं होता वह स्ववश तथा सबका शासक है। सब उसी के शासन के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। उसका कोई अन्य स्वामी नहीं। वही सबका स्वामी है-अधिपति है। उसे शुभाशुभ कर्म स्पर्श नहीं करते। न तो वह शुभकर्मों के करने से बढ़ता ही है और न अशुभ कर्म करने से घटता ही है। उसका कोई अन्य ईश्वर नहीं, वही सबका ईश्वर है-सर्वेश्वर है-वह समस्त प्राणियों का-चराचर भूतों का अतिपति है तथा सभी प्राणियों का परिपूर्ण पालक है। यद्यपि उसे ससारी कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं, तथापि लोकों की मर्यादा बनाये रखने को वह इन समस्त लोकों को धारण करने वाला है। मर्यादा बनाये रखने को सुन्दर सेतु है।

जो ब्रह्मविद् हैं, ब्राह्मण हैं, स्वधर्म निरत हैं, सच्चे साधक हैं वे वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तथा निष्काम तप द्वारा

इच्छुक रहते हैं। इसी परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करके पुरुष मननशील, वीतराग, भय, क्रोध, सत्यवाक् मुनि होता है।

गृहस्थ लोग लक्ष्मी से युक्त भरे पूरे परिवार वाले गृह में आनन्द का अनुभव करते हैं, किन्तु इस आत्मा के आनन्द की अनुभूति करने के निमित्त पुरुष भरे-पूरे परिवार को, विपुल धन को, समस्त भोग सामग्रियों को त्याग कर चले जाते हैं। पहिले जो त्यागी-विरागी ऋषि मुनि हो गये हैं प्रजा की—सन्तान की—इच्छा नहीं किया करते थे। वे वैराग्य विवेक से युक्त होकर विचारते थे—हमें सन्तान उत्पन्न करके क्या लेना देना है। हम तो आत्मसाक्षात्कार चाहते हैं-हमें तो एकमात्र आत्मलोक ही अभीष्ट है। पुत्र की इच्छा करना, धन की इच्छा करना तथा स्वर्गादि लोकों की इच्छा करना ये तो बन्धन के हेतु हैं, अतः वे आत्मलोक के इच्छुक मुक्ति के चाहने वाले—संसार बन्धन से सदा के लिये मुक्त होने को समुत्सुक मुमुक्षु महानुभाव पुत्रैपणा, वित्तैपणा और स्वर्गादि लोकों की इच्छाओं को त्याग कर केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षाटन करके ही शरीर को साधन के निमित्त टिकाये रखते हैं।

पुत्रैपणा क्या है? अपने को पुनः पुत्र रूप में देखने की वासना को पुत्रैपणा कहते हैं। मनुष्य स्वयं ही वीर्य द्वारा अपनी धर्मपत्नी के उदर में प्रवेश करता है और स्वयं ही पुत्र रूप से अपनी स्त्री के उदर से उत्पन्न होता है। इसीलिये पुत्रवती स्त्री का नाम जाया है। जिसके उदर से पुत्र रूप में पुनः पैदा हो (जायते पुत्ररूपेण-आत्मा-अस्याम्=इति जाया) पुत्र कब होगा? जब अपनी जाया=पत्नी—होगी। अतः पत्नी की इच्छा करके उसमें पुत्र उत्पादन करने की कामना को पुत्रैपणा कहते हैं। क्योंकि प्रवृत्तिमार्ग में पुत्र के बिना गति नहीं होती। यह

मनुष्य लोक पुत्र द्वारा ही होता है। दूसरे किसी अन्य उपाय से नहीं अतः लोककामों को पुत्र अवश्य उत्पन्न करने चाहिये।

वित्तैषणा क्या है ? ससार के जितने लोक परलोक सम्बन्धी कार्य हैं वे सब धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। अतः यज्ञादि शुभ कर्म करने के निमित्त धन की इच्छा करना इसे वित्तैषणा कहते हैं। धन होगा तो यज्ञादि शुभ कर्म करेंगे, उनके फल स्वरूप हमें स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होगी।

लोकैषणा क्या है ? विवाह करके पुत्र उत्पन्न करें, धनोपार्जन करके यज्ञादि शुभ कर्मों को करें उन शुभ कर्म रूपी साधनों द्वारा स्वर्गादिलोक जो शुभ कर्मों से साध्य हैं वे हमें प्राप्त हों। अतः पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा ये तीनों एषणायें पृथक् पृथक् नहीं हैं। जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है वही लोकैषणा है। अर्थात् पुत्र वित्त सब साधन उत्तम लोक प्राप्ति में हेतु हैं। पुत्र, वित्त, ये तो साधन हैं। उत्तम लोग प्राप्ति साध्य हैं। अतः साध्य साधनों की प्राप्ति की इच्छा (स्वर्गादि लोकों) को प्राप्त करने की इच्छा-ये दोनों ही इच्छायें हैं-एषणायें हैं। प्रवृत्ति मार्ग के साधन हैं।

किन्तु जो निवृत्ति मार्गीय हैं जो केवल परब्रह्म परमात्मा में ही अनुरक्त हैं, परमात्मा के अतिरिक्त ससार की समस्त कामनाओं से जो विरक्त हैं जिन्हें न स्त्री की इच्छा है न धन, पुत्र तथा स्वर्गादि लोकों की इच्छा है, ऐसे समस्त इच्छाओं से विनिर्मुक्त निवृत्ति मार्ग के साधकों को ससार के किसी भी प्रपच में न फँसना चाहिये। फिर ऐसे लोगों का निर्वाह कैसे हो ? उदर-पोषण किस प्रकार हो ? तो ऐसे सर्व एषणाओं से विनिर्मुक्त साधकों को केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षाचर्या पर ही आश्रित रहना चाहिये। जिसके हृदय में तीनों एषणाओं में से

कोई भी एषणा—तनिक भी—शेष हो वह भिक्षा का अधिकारी नहीं। अतः जो निवृत्ति मार्गीय हैं उन्हे पुत्र, वित्त, लोक की समस्त इच्छाओं का परित्याग करके आत्म-चिन्तन में ही निरत रहना चाहिये।

आत्मा का स्वरूप क्या है? वह किस इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जा सकता है? तो इस विषय में बताते हैं—आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं। अच्छा, वेद तो सबके सम्बन्ध में बताता है। उसने आत्मा के भी सम्बन्ध मे बताया होगा? हाँ, वेद आत्मा के सम्बन्ध मे बताता तो है, किन्तु विधि रूप में नहीं, निषेध रूप से बताता है। क्या अन्न ब्रह्म है?" कहते हैं 'ऐसा नहीं।' तो, क्या प्राण ब्रह्म है? 'नहीं, ऐसा भी नहीं।' तो क्या मन ब्रह्म है? 'नहीं, ऐसा भी नहीं।' तो क्या विज्ञान बुद्धि ब्रह्म है? 'नहो ऐसा नहीं।' इस प्रकार यह भी नहीं यह भी नहीं (नेति-नेति) कहकर ही आत्मा का वेद निर्वचन करता है।

वेद ऐसा द्रविण प्राणायाम क्यों करता है? स्पष्ट क्यों नहीं बताता, कि यह ब्रह्म है? स्पष्ट वह कैसे बतावे? यदि आत्मा किसी वाह्य या अन्तः इन्द्रिय द्वारा गृह्य होता, तब तो कहते आत्मा ऐसा है। वह तो अगृह्य है। वह किसी भी इन्द्रिय से कैसे भी ग्रहण नहीं किया जाता। यदि वह जन्म लेता, तो उसका नाश भी सम्भव था, क्योंकि जिसका जन्म है, उसका नाश ध्रुव है। वह जब अज है, तो उसका नाश भी नहीं। वह अशीर्य है अर्थात् उसका नाश नहीं होता। वह किसी पदार्थ मे आसक्त न होने से असङ्ग है। वह किसी भी दशा में व्यथित नहीं होता क्योंकि वह अक्षय है, उसका क्षय होना सम्भव नहीं। जब वह ऐसा है तो उसका निर्वचन स्पष्टतया कैसे किया जाय। कहना

ही हो तो यही कह सकते हैं कि जो भी कुछ है सब आत्मा ही आत्मा है, ब्रह्म ही ब्रह्म है।

तब तो जिसे आत्मज्ञान हो गया होगा, वह परम हर्षित होता होगा ? नहीं, सो भी बात नहीं। हर्ष का प्रतिद्वन्द्वी शोक है। जिसे हर्ष सम्भव है उसे शोक का भी होना सम्भव है। आत्मवित् पुरुष हर्ष-शोक दोनों से ही रहित होता है। वह आत्मज्ञ पाप-पुण्य से भी रहित हो जाता है उसे न पाप लगता है, न पुण्य लगता है उसे पाप से पश्चात्ताप और पुण्य से हर्ष भी नहीं होता वह हर्ष शोक, पाप पुण्य दोनों से ही परे हो जाता है, दोनों को ही पार कर जाता है। वह अपना नित्य नैमित्तिक कर्म करे, तो उसका कुछ फल नहीं, न करे तो उसे कोई प्रत्यवाय पाप नहीं। वह दोनों में सम रहता है, करे तो कोई सन्तोष नहीं, न करे तो कोई असन्तोष नहीं। वह सभी अवस्थाओं में समभाव से अवस्थित रहता है।

महर्षि याज्ञवल्क्यजी राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन्! ब्रह्मज्ञानी के लिये सब कुछ समान है, इस विषय में वेद की एक ऋचा है। उस ऋचा का तात्पर्य यह है, कि ससारी लोगों की स्थिति तो कर्म करने से बढ़ती है, न कर्म करने से घटती है, किन्तु ब्रह्मवेत्ता की महिमा नित्य है एकरस है। वह कर्म करने से न तो बढ़ती ही है और कर्म न करने से घटती भी नहीं। जो ब्रह्मवेत्ता की महिमा के स्वरूप को जान लेता है, उसे अपने जीवन में डाल लेता है, वह पाप कर्मों मे लिप्त नहीं होता। इसलिये जो ब्रह्मवेत्ता की महिमा के स्वरूप को भली-भाँति जान लेता है वह शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और सर्वप्रकार से समाहित होकर अपने आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है। उसे आत्मा से पृथक् कुछ दिखायी ही नहीं देता। वह सभी मे

अपनी ही आत्मा को देखता है। उसे सभी में आत्मा के ही दर्शन होते हैं। ऐसे समदर्शी आत्मज्ञानी पुरुष को पाप अथवा पुण्य की प्राप्ति नहीं होती। वह सभी प्रकार के पापों से-पुण्यों से भी-रहित हो जाता है। सम्पूर्ण पाप पुंजों को पार कर जाता है। उसे पाप नहीं, ताप नहीं, सन्ताप नहीं। वह समस्त पापों को सतप्त कर देता है। वह अपापात्मा, कामनाओं से रहित, सभी प्रकार के सशयों से मुक्त, ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण हो जाता है। राजन् ! इसी स्थिति में पहुँचने पर पुरुष शोक, सन्ताप तथा सर्व सशयों से रहित बन जाता है। हे सम्राट् जनक ! तुमको उसी ब्रह्मज्ञानी की स्थिति में पहुँचा दिया गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब इस प्रकार महाराज जनक से याज्ञवल्क्यजी ने कहा, तब महाराजा जनक कृतकृत्य हो गये। अपने को कृतार्थ मानकर गद्गद वाणी में उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्यजी को प्रणाम करके कहा—"ब्रह्मन् ! अब आपकी इस कृपा के उपलक्ष्य में मैं आपको क्या अर्पण करूँ, मेरा राज्य-पाट और यह सम्पूर्ण विदेह देश मैं आपके पादपद्मों में समर्पित करता हूँ और साथ ही दासता के निमित्त आपके निजी कैंकर्य के लिये मैं अपने आपको भी समर्पित करता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जब जनकजी ने कृतकृत्य होकर अपना सर्वस्व गुरुदेव के चरणारविन्दों में समर्पित कर दिया तो याज्ञवल्क्य मुनि प्रसन्न हुए। अब इस जनक याज्ञवल्क्य आख्यायिका का फल कहते हैं—"तुम इस बात को निश्चय ही जानो कि वह यह परब्रह्म परमात्मा अज है—उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती। वह महान् है। उससे बड़ा महत्वशाली अन्य कोई नहीं है। वह अन्नाद है। प्राणिमात्र को वही उसके अनुरूप-अन्न-खाने की वस्तुएँ-देता है। वही वसुदान

है। अर्थात् समस्त प्राणियों को वही सब प्रकार का धन देता है। जो उपासक ब्रह्म के-आत्मा के-ऐसे स्वरूप को जानता है वह अन्न और धन को प्राप्त करता है। अन्न उसी परब्रह्म का नाम है और वसु-महाधन-वह परब्रह्म ही है। ब्रह्मवित् ब्रह्म को ही प्राप्त होता है। ब्रह्म के समान ही हो जाता है।"

श्रुति कहती है—"वह आत्मा अज है, जन्म से रहित है, वृद्धावस्था से रहित है, अजर है। वह मरणधर्म से रहित है अमर है। वह कभी न मारने वाला अमृत है। वह सभी प्रकार के भयों से रहित अभय है। अभय ही ब्रह्म है, जो ब्रह्म के इस अभय स्वरूप को भली-भाँति जानकर उसे जीवन में परिणित कर लेता है वह भी अभय ब्रह्म ही हो जाता है। सो मुनियो! यह जनक याज्ञवल्क्य सम्वाद मैंने आपसे कह दिया। अब आगे पंचम ब्राह्मण में जैसे इसी उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद कहा था, उसे ही कुछ प्रकारान्तर से पुनः कहेंगे। आशा है आप दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

यज्ञ, दान, तप करें मुक्ति हित मुनि बनि जावें।
सब इच्छनि कूं त्यागि भिच्छु त्यागी कहलावें॥
नेति नेति निरदेश आतमा है असंग नित।
नहीं वृद्ध आसक्त नहीं छय, नहीं व्यथित सत॥
पाप पुण्य तें रहित नित, रहै ब्रह्मवेत्ता सतत।
दोउनि में समबुद्धि तिहिं, शुभ अशुभनि करमनि रहित॥

(२)

महिमा ताकी बढ़ै घटै नहिँ कर्म शुभाशुभ ।
शान्त, दान्त, समभाव, ब्रह्म को सब थल अनुभव ॥
आत्मा में ही लखै आत्म सबही में जाने ।
पाप पुण्य नहिँ लिप्त ब्रह्म सरबत्र पिछाने ॥
याज्ञवल्क्य बोले—नृपति, ब्रह्मभाव प्रापत भयो ।
राज, पाट, तन, धन सकल, अरपूँ यह नृपति कह्यो ॥

(३)

आत्मा है अन्नाद और वसुदान कहावै ।
जो जानें जा भाव अन्न, धन सो बहु पावै ॥
सब करमनि फल पाइ ब्रह्मवित ब्रह्म कहावै ।
अजर, अमर, अज अमृत ब्रह्म निर्भय बनि जावै ॥
याज्ञवल्क्य ने जनक तैं, ब्रह्मज्ञान जा विधि कह्यो ।
यह प्रसंग शुभ मुक्तिप्रद, जा विधि तैं पूरन भयो ॥

इति वृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में चतुर्थ शारीरक ब्राह्मण समाप्त ।

पुनः याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद

[२५६]

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥*

(बृ० उ० ४ अ० ५ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

याज्ञवल्क्य द्वै पत्नि सु मैत्रेयी कात्यायनि।
बोले मुनि—तजि गृहथ जाउ वन सुनु वच भामिनि॥
धन बँटवारो करूँ सुनत बोली मैत्रेयी।
सगरी भू धन भरी सुखी का होऊ तेई?
याज्ञवल्क्य बोले—प्रिये! भोगनि में है नहीं सुख।
तब धन लैकें का करूँ, कहें अमृत जिहि मिटै दुख॥

वर्णाश्रम धर्म मुक्ति मार्ग की सीढ़ियाँ हैं। इसे क्रम मार्ग

---

* याज्ञवल्क्य मुनि के दो भार्यायें थीं। एक का नाम मैत्रेयी दूसरी का नाम कात्यायनी। इन दोनों में मैत्रेयी तो ब्रह्मवादिनी थी। दूसरी कात्यायनी सर्वसाधारण स्त्रियों की बुद्धि वाली ही थी। एक दिन याज्ञवल्क्यजी ने अब दूसरी ही चर्या आरम्भ करें, ऐसा मन में सोचकर उन दोनों से कहा—

कहते हैं। दो प्रकार की प्रजा होती है, एक वनवासी दूसरी नगरवासी। वनों में रहकर वहाँ के कन्द मूल फलों को खाकर, वहाँ के काष्ठ, पत्ते तथा ओपधियों को बेचकर निर्वाह करने वाले कोल, भील, निपाद, आभीर आदि वन में रहने वाली जातियाँ वनवासिनी जातियाँ कही जाती थीं। वे चारों वर्णों से पृथक् पचम वर्ण मे मानी जाती थीं। उनमे भी राजा होते थे और उनकी भी अपनी परम्परागत मान्यतायें होती थीं। वर्णाश्रमियों से उनका सम्बन्ध युद्धादि के समय होता था। वे वन के स्वामी होते थे। वर्णाश्रमी राजागण वनो को अपने राज्यों से पृथक् मानते थे। वनों पर स्वामित्व उन वनवासी जातियों का ही माना जाता था।

वर्णाश्रमियों में चार प्रकार के लोग भी वन में जाकर रहते थे। उनके साथ वनवासियों का कोई विरोध नहीं होता था। वन वासी भी धार्मिक होते थे। त्यागप्रधान जीवन बिताने वालों का वे भी आदर करते थे।

वन में जाकर बसने वाले चार प्रकार के लोगों में पहिले तो ऋषिगण होते थे। वे प्रायः सब के सब त्यागप्रधान जीवन बिताते हुए भी सद्गृहस्थ महर्षि हुआ करते थे। उनके बच्चे उन्हीं की भाँति त्यागप्रधान जीवन बिताकर पिता के ही समीप में अथवा अन्य विद्वान् ऋषियों के समीप में वेदाध्ययन करके धर्मपूर्वक दारग्रहण–विवाह–कर लेते थे। उनमें कोई कोई विवाह न करके जीवन भर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए त्यागमय जीवन बिताते थे। इन ऋपि आश्रमों में वर्णाश्रमी अपने बालकों को पढ़ने छोड़ आते थे। उनमें अधिकांश ब्राह्मण और क्षत्रियों के ही बालक होते थे। कोई-कोई वैश्य भी अपने बच्चों को गुरुकुल में भेज देते थे। शूद्र अपने बच्चों को घर में ही रखकर वंश-

परम्परागत सेवा सम्बन्धी कलाओं को सिखा देते थे। तो वर्णाश्रमियो में पहिले तो वन मे रहने वाले ऋषि मुनि तथा उनके शिष्य अथवा पुत्रादि होते थे। दूसरे गृहस्थ धर्म से विरक्त हुए वे वानप्रस्थ होते थे जो घर-द्वार छोड़कर–नगरवासियो से सब प्रकार का नाता तोड़कर अग्निहोत्र करते हुए वनवासी जीवन बिताते थे। वे ग्राम्योपवियों–जौ, गेहूँ, हल से जोते चावल–आदि का उपयोग नहीं करते थे। केवल वन मे उत्पन्न होने वाले कन्द, मूल, फल, अंकुर तथा विना जोते बोए अपने आप उत्पन्न होने वाले (समा, नीवार, तिन्नी, फाफर, कूट्ट आदि) मुनि अन्नों पर निर्वाह करते थे। वे कभी न ग्रामों मे आते थे न ग्राम्यान्नों को खाते थे। तीसरे वे अपराधी राजकुमार होते थे, जिन्हें राजा लोग किसी अपराध पर देश निकाला दे देते थे, वे राजकुमार अपने मंत्री पुरोहित तथा सेवकों के साथ वनो मे–पर्वतों पर चले जाते थे। वहाँ छोटा-सा गढ़ या किला बनाकर अपना राज्य-सा स्थापित करते थे और वन वासियों की कन्याओं से विवाह कर लेते थे। इन तीनो के अतिरिक्त संन्यासी भी वन में जाते थे किन्तु उनके लिये कोई नियम नहीं था कि वे वन में ही रहें और वन के पदार्थों को ही खायें। वे वानप्रस्थियों से भी भिक्षा ले सकते थे और ग्रामों मे नगरो मे भी गृहस्थियों के घरों से मधुकरी कर सकते थे। वे नगरो मे वनों मे घूमते रहते थे। इसलिये वे परिव्राजक कहलाते थे।

ऋषिगण तो जन्मजात ही त्यागी होते थे वन में ही रहते थे। इसलिये उनको वानप्रस्थ और संन्यास का आग्रह नहीं था। उनका जीवन तो स्वयं ही त्यागमय तपमय होता था। हाँ जो ऋषि या ब्राह्मण राजाश्रय में रहने लगते थे। राजाओं के गुरु बन जाते थे। उनका राजाओं जैसा वैभव हो जाता था। वनमें

से कोई कोई गृहस्थ का वैभव छोड़कर वनवास करने को जाना चाहते थे, जैसे राजागण राज्यपाट छोड़कर अन्त में तपस्या करने वानप्रस्थ जीवन बिताने अपनी राजधानी को छोड़कर सपत्नीक या पत्नी को पुत्रों को सौंपकर वन में जाकर रहने लगते थे। महर्षि याज्ञवल्क्यजी महाराज जनक के राजगुरु थे। दान दक्षिणा में प्राप्त उनके पास बहुत धन रहा होगा। गौ, घोड़ा, वाहन, नौकर चाकर तथा राजाओं के समान वैभव रहा होगा। वे ब्रह्मज्ञानी तो थे ही। अन्त में उन्हें इस धन वैभव से विराग हुआ होगा। इसी उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्थ मैत्रेयी ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी सम्वाद आ चुका है। फिर उसी को तनिक हेर-फेर के साथ चतुर्थ अध्याय के पंचम मैत्रेयी ब्राह्मण में फिर ज्यों का त्यों दिया गया है। यही नहीं पाँचवाँ मधु ब्राह्मण और वंश ब्राह्मण भी द्वितीय अध्याय के पंचम छटे मधु और वंश ब्राह्मण के ही सदृश है। इससे प्रतीत होता है, उपनिषद् किसी एक ऋषि की निर्मित नहीं हैं। ये संग्रह मात्र हैं। भिन्न भिन्न ऋषियों ने संग्रह कर दिया है। अतः हमें जो कहना है तो उसे द्वितीय अध्याय के चतुर्थ, पंचम और पष्ठ ब्राह्मण में कह चुके। यहाँ तो इनका प्रसंग पूर्ति के लिये तीनों ब्राह्मणों का सार कहे देते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महर्षि याज्ञवल्क्य की मैत्रेयी और कात्यायनी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी साधारण नारी थी। याज्ञवल्क्यजी ने त्यागी जीवन बिताने की इच्छा से मैत्रेयी से कहा—"मैं गृहस्थाश्रम त्यागकर त्यागमय जीवन बिताने जाना चाहता हूँ। अतः तुम दोनों के धन का बँटवारा कर दूँ।"

मैत्रेयी ने कहा—"संसार का सभी धन मुझे मिल जाय, तो

उससे क्या मुझे शांति प्राप्त होगी ? हैं मृत्यु के चंगुल से छूट जाऊँगी।"

याज्ञ०—"नहीं,धन से यह सम्भव नहीं। धनी पुरुषों का-सा जीवन हो जायगा।"

मैत्रेयी—"तो मैं धन लेकर क्या करूँगी ? मुझे अमृतत्व का उपाय बताइये।"

याज्ञ०—"अच्छी बात है, मैं तुम्हे अमृतत्व का उपाय बताता हूँ। देखो, पति, स्त्री, पुत्र, पशु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, वेद, सर्वभूत, ये सब के सब, सबके लिये लोकप्रिय नहीं होते अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं। अतः दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय तथा निदिध्यासनीय आत्मा ही है। निश्चय ही आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन निदिध्यासन करने पर इन सबका ज्ञान हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देव, भूत तथा सभी प्राणी उसे परास्त कर देते हैं जो इन सबको आत्मा से भिन्न मानता है। अतः ये सब कुछ भी नहीं हैं जो कुछ है आत्मा ही आत्मा है।

दुंदुभि के शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते। दुंदुभी या उसे बजाने के साधन को ग्रहण करने से शब्द उसी प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, जैसे शङ्ख या बासुरी के ग्रहण करने पर उसके शब्द को भी ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार वाणी को ग्रहण करने पर शब्द ग्रहीत होता है। यह सब का सब ब्रह्म का ही निःश्वास है। नमक के डले में सर्वत्र नमकीन ही नमकीन है उसी प्रकार भीतर बाहर सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है।"

मैत्रेयी—"आत्मा अविनाशी कैसे है, इससे मुझे मोह हो गया है।"

याज्ञ०—"मोह वाली बात मैं नहीं करता। आत्मा अनुच्छेद

तथा अविनाशी है ही। देखो, देखना, सूँघना रस का आस्वादन, सुनना, मनन करना, स्पर्श करना ये सब द्वैत में ही सम्भव हैं। जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा है वहाँ ये सब क्रियायें सम्भव नहीं। ब्रह्म तो नेति-नेति द्वारा निर्वचन किया गया है। वह अगृह्य, अशीर्य, असङ्ग तथा अबद्ध है जो स्वयं ही विज्ञाता है उसे किसके द्वारा जाने ? इसी का नाम अमृतत्व है। ऐसा कह कर याज्ञवल्क्यजी गृहस्थी का वैभवपूर्ण जीवन त्यागकर त्यागमय जीवन बिताने घर से वन में चले गये।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पंचम मैत्रेयी ब्राह्मण में ये बातें बतायीं। छटे वंश ब्राह्मण में याज्ञवल्कीय कांड की वंश परम्परा का वैसे ही वर्णन है, जिसे हमने भागवती कथा के ९५ खंड के २२६ अध्याय में ब्रह्म स्वयम्भू से लेकर पौतिमाष्य तक की परम्परा बतायी है। इस प्रकार वृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम और षष्ठ दो ब्राह्मणों में प्रसङ्गानुसार याज्ञवल्क्यजी के ही प्रसङ्ग आने पर तनिक हेर-फेर के अनुसार वे ही सब बातें हैं। इस प्रकार यह चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ। अब पंचम अध्याय के प्रथम ॐ खं ब्रह्म ब्राह्मण मे जिस प्रकार ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासना का वर्णन किया गया है, उसे मैं आप सबसे आगे कहूँगा। आशा है आप सब इस प्रसङ्ग को समाहित चित्त से श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

—०—

छप्पय

याज्ञवल्क्य मुनि कहें—आतमा ही सब कछु है।
आत्म भिन्न कछु नाहिँ आतमा ही सरबसु है॥
द्वैत माहिँ ही भेद आतमा अद्वय अभिरत।
सकल शोक मिटि जायँ रहैं जे आत्मामहँ रत॥
याज्ञवल्क्य यों ज्ञान दै, त्यागी बनि घरतैं गये।
पंचम आत्मा वश पट, द्वै ब्राह्मण पूरन भये॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में
पञ्चम मैत्रेयी ब्राह्मण षष्ठ वंश ब्राह्मण समाप्त-
चतुर्थ अध्याय समाप्त।

बृहदारण्यक उपनिषद् पञ्चम अध्याय

शान्तिपाठ (खिलकाण्ड)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥*

ॐशान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! (शान्तिपाठ)

छप्पय

ब्रह्म सच्चिदानन्द पूर्ण सब भाँति सकल है ।
उनतैं ही यह जगत भयो सोऊ पूरन है ॥
जातें जो उत्पन्न वस्तु सो तिहि गुनधारी ।
माँटी तैं उत्पन्न पात्र मृन्मय घट झारी ॥
पूरनमें तैं पूर्ण कूँ, यदि निकारि अलगाउ तुम ।
तो पूरन ही बचै पुनि, सत्य सत्य यह कहहिं हम ॥

उपनिषदों में जो विषय वर्णित है उसे काण्ड कहते हैं । जैसे मधुविद्याकाण्ड, अर्थात् इस प्रकरण में मधुविद्या का वर्णन किया जायगा । यह तो उपनिषद् के अन्तर्गत विषय का वर्णन हुआ ।

---

* यह ओंकार पूर्ण है यह पूर्ण है । यह जो पूर्ण है वह पूर्ण से ही उत्पन्न होता है । पूर्ण में से पूर्ण ले लो—निकाल लो—तो पुनः पूर्ण ही शेष रह जायगा । अर्थात्—पूर्ण में से पूर्ण गुणित करो चाहे पूर्ण में से पूर्ण निकालो प्रत्येक दशा में गुणनफल, शेष पूर्ण ही रहेगा ।

इस अन्तर्गत विषय के अतिरिक्त आदि अन्त में जो प्रस्तावना के रूप में शान्तिपाठ या मगलाचरण के मन्त्र पढ़े जाते हैं। उनको खिलकाण्ड कहते हैं। अर्थात् विवेच्य विषय के अतिरिक्त विषय उसे परिशिष्ट प्रकरण भी कह सकते हैं। प्राचीन परम्परा ऐसी रही है, कि अध्ययन के पूर्व और अध्ययन के अन्त में गुरु शिष्य दोनों मिलकर शान्तिपाठ करते हैं। अध्ययन के पूर्व शान्तिपाठ इसलिये करते हैं, कि हम जिस विषय का अध्ययन करने जा रहे हैं, वह हमारे लिये मगलप्रद हो। पढने के अन्त में जो शान्तिपाठ करते हैं, वह इसलिये कि हमने जो कुछ पढा-पढाया है वह सब मगलदायक हो। मगल की कामना से शान्ति-पाठ किया जाता है। उसे विवेच्य विषय में सम्मिलित नहीं करते। भिन्न भिन्न उपनिषदों के भिन्न भिन्न खिलकाण्ड अथवा शान्तिपाठ हैं। किस उपनिषद् का कौन सा शान्तिपाठ है इसे मुक्तिकोपनिषद् में बताया है। किसी उपनिषद् का 'ॐआप्ययन्तु ममाङ्गानि' यह शान्तिपाठ है, किसी का 'ॐसहनाववतु' यह शान्तिपाठ है किसी का 'ॐपूर्णमदः' यह है। उसी उपनिषद् में 'ॐपूर्णमदः' यह शान्तिपाठ १९ उपनिषदों का बताया है। इन १९ उपनिषदों के पढ़ने के पूर्व तथा पढने के अन्त में 'ॐपूर्ण-मदः' इस मन्त्र को पढ़ लेना चाहिये वे उन्नीस उपनिषदें ये हैं— १-ईशावस्य, २-परमहस, ३-जाबाल, ४-हस, ५-परमहस, ६-सुबाल, ७-मन्त्रिका, ८-निरालम्ब, ९-त्रिशिखीब्राह्मण, १०-मडलब्राह्मण, ११-अद्वयतारक, १२-पैङ्गल, १३-भिक्षुक, १४-तुरीयातीत, १५-अध्यात्म, १६-तारसार, १७-याज्ञवल्क्य, १८-शाट्यायनी, और १९-मुक्तिकोपनिषद्। ये सब की सब उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद की उपनिषदें हैं।

यह ॐपूर्णमदः शान्तिपाठ अत्यन्त ही महत्त्व का है। ब्रह्म

को ख कहा है। खं माने आकाश-शून्य आप शून्य-को शून्य से गुणा कीजिये गुणनफल शून्य होगा। शून्य को शून्य से भाग दीजिये भागफल शून्य होगा। शून्य को शून्य में जोड़िये तो जोड़ शून्य होगा। शून्य को शून्य मे से घटाइये तो शून्य ही शेष रहेगा। इस प्रकार वह ब्रह्म परिपूर्ण है।

एक दूसरी भी प्रक्रिया है। पूर्ण संख्या १ से ९ तक है। अर्थात् नौवीं संख्या पूर्ण है। नौ के पश्चात् कोई संख्या है ही नहीं। तो आप चाहे एक से ९ तक को जोड़े या ९ से एक तक जोड़े दोनो ही दशा मे ४५ जोड़फल आता है। ४५ में ४+५ हैं। चार और पाँच नौ हुए। जैसे—

९+८+७+६+५+४+३+२+१=४५=४+५=९

१+२+३+४+५+६+७+८+९=४५=४+५=९

यह तो जोड़ की संख्या हुई। इसी प्रकार बाकी भी लीजिये

९ ८ ७ ६ ५ ४ ३ २ १

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९

---

८ ६ ४ १ ९ ७ ५ ३ २ शेष

अब इन अक्षरों को जोड़िये ८+६+४+१+९+७+५+३+२=जोड़ ४५=४+५=९ जोड़फल इस प्रकार कैसे भी जोड़िये घटाइये ९ का ९ ही रहेगा।

तीसरा क्रम यह है ९ का पहाड़ा गिनिये। ९ एकन नौ। नौ दूनी अठारह। १+८=९। नौती सत्ताईस। २+७=९। नौ चौका छत्तीस। ३+६=९। नौ पंजे पैंतालीस। ४+५=९। नौ छिक चौअन। ५+४=९। नौ सात तिरेसठ। ६+३=९। नौ अट्ठे बहत्तर। ७+२=९। नौ नवे इक्यासी। ८+१=९। नौ दहारियम नब्बे ९+०=९। इस प्रकार नौ में से चाहे निकालिये चाहे जोड़िये अथवा भाग दीजिये नौ के नौ ही रहेंगे। इसी

प्रकार पूर्ण परब्रह्म परमात्मा म से अनन्तब्रह्माण्ड निकल जायँ, तो भी वे बने रहेंगे। असख्यों ब्रह्माण्ड उनमे आकर मिल जायँ तो भी उनमें किसी प्रकार की वृद्धि नहीं होगी। वे पूर्ण के पूर्ण ही बने रहेंगे। जैसे समुद्र मे से असख्यों मेघ जल भर लाते हैं, फिर भी उसका जल घटता नहीं ज्यों का त्यों पूर्ण ही बना रहता है। चारों ओर से बड़े वेग से असख्यो नदी नद आकर अनन्त जल लेकर समुद्र में गिरते हैं उनके गिरने से समुद्र मे कोई वृद्धि नहीं। अर्थात् जैसे समुद्र वृद्धि तथा ह्रास से रहित होकर सदा परिपूर्ण ही बना रहता है वैसे ही ख ब्रह्म ओंकार है। वह वृद्धि ह्रास स रहित सदा परिपूर्ण है एकरस है। पूर्ण सख्या नौ है, उसमे जितने भी शून्य लगाते चलो बढता जायगा। जितने भी शून्य घटाते जाओ घटता जायगा किन्तु घटने बढने पर भी उसका नौ पना नहीं मिटेगा। नौ तो बना ही रहेगा क्योंकि वह पूर्ण है।

वह परब्रह्म ख आकाश के सदृश सब स्थानों पर व्यापक अनन्त तथा किसी भी प्रकार की उपाधि से रहित है। उस पूर्ण-ब्रह्म से राम कृष्णादि अवतार अवतरित होते हैं, वे भी पूर्ण ही हैं। पूर्ण अवतार प्रकट होने पर भी उसकी पूर्णता कम नहीं होती। वह पूर्ण का पूर्ण ही बना रहता है। वह जिसमे से अव तार प्रकट हुए हैं, वह भी पूर्ण है और ये अवतार भी पूर्ण ही हैं। फिर ये अवतार अन्तर्हित होने पर न अवतारों की पूर्णता जाती है न उसी परब्रह्म की पूर्णता मे कोई वृद्धि होती। वह भी पूर्ण यह भी पूर्ण और पूर्ण के नाम भी पूर्ण, उनके रूप भी परि-पूर्ण, उनकी लीला भी पूर्ण और उनके अवतरण के स्थान धाम भी पूर्ण। पूर्ण की सभी बातें पूर्ण ही हैं। अत परिपूर्ण ब्रह्म को पूर्ण रूप से प्रणाम है। पूर्ण को पूर्ण प्रणाम करने पर करने वाला भी परिपूर्ण ही हो जाता है।

छप्पय

पूर्ण परात्पर पूर्ण पूर्ण ही पूर्ण कहावै।
पूर्ण माहिँ घटि जाय पूर्ण ही शेष रहावै॥
पूर्ण माहिँ बहु मिलै नाहिँ तिहि वस्तु बढ़ावै।
पूर्ण माहिँ लै जाउ पूर्णता नहीं नसावै॥
पूर्ण सदा पूर्णहिँ रहै, कबहूँ नहीं अपूर्ण है।
पूर्ण घटत नहिँ बढ़त है, पूर्ण सदा परिपूर्ण है॥

ॐ खं ब्रह्म और उसकी उपासना

[२५७]

ॐ खं ब्रह्म। खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद् वेदितव्यम् ॥*

(बृ० उ० ५ अ० १ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

ओंकार ख ब्रह्म अकाशहिँ ब्रह्म सनातन।
वायु रहै जिहि माहिँ कहैं ख ताकूँ ऋषिगन॥
जड़ नहिँ सो आकाश यहाँ खं परमात्मा है।
कौरव्यायणि पुत्र कहैं—खं ही आत्मा है॥
ओंकार ही वेद है, हैं जानत सब विप्रगन।
वाचक ताको प्रणव है, वेदितव्य कूटस्थ घन॥

---

* यह जो ओंकार है आकाश के सदृश अपरिच्छिन्न है। वही ब्रह्म है। अर्थात् ब्रह्म का वाचक प्रणव-ओंकार ही है। ओंकार मे ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। वह पुराण—सनातन—है। कौरव्यायणी पुत्र ने वायु वाले आकाश को ही ख कहा है। यह ओंकार वेद है। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जानते हैं, कि यही जानने योग्य वस्तु है। यह ओंकार द्वारा ही जानी जा सकती है।

ओंकार कहो प्रणव कहो यह ब्रह्म वाचक नाम है। ब्रह्म का निर्देश प्रणव से–ओंकार से–ही किया जाता है। वेदों में प्रणव को महा महिमा गायी गयी है। कहते हैं पहिले पहिल यह प्रणव ही एकमात्र वेद था। उसी प्रणव का विस्तार चारों वेदों में है। इसीलिये प्रणव का नाम 'वेदादि' है। अर्थात् आदि वेद। चारों वेदों का बीज होने से इसका नाम ब्रह्म बीज भी है। उपनिषदों मे ओंकार की सर्वत्र प्रशंसा है। कठोपनिषद् मे कहा है—समस्त वेद जिस पद को बारम्बार प्रतिपादन करते हैं, समस्त प्रकार के तप जिस प्राप्य स्वरूप को कहते हैं। जिसे प्राप्त करने की इच्छा से साधक ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं। उस पद को मैं अत्यन्त संक्षेप में तुम्हारे लिये कहता हूँ। वह पद है—'ॐ' यह ब्रह्म का निर्देश है। यही प्राप्य स्वरूप है। पुराणों में भी कहा है—"यह ॐ ही ब्रह्म है, यही परम अक्षर है। इसी अक्षर को जानकर जो जैसी इच्छा करता है वह वैसा ही हो जाता है। यह ॐ ही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ परम आलम्बन है। इस प्रणव रूप आलम्बन को जानकर ब्रह्मलोक में पूजित होता है।

प्रश्नोपनिषद् मे भी कहा है—"हे सत्यकाम! यह ॐ ही पर तथा अपर ब्रह्म है। इस कारण से विद्वान् इसी के अवलम्ब से पर या अपर किसी एक की उपासना करता है।"

मुण्डकोपनिषद् में भी कहा है—"ओंकार का ही ध्यान करो। तुम ओंकार के ध्यान मे प्रवृत्त होगे तो तुम्हारा कल्याण होगा।"

माण्डूक्योपनिषद् में भी कहा है—"भूत, भविष्य तथा वर्तमान यह सब ओंकार ही है इनके अतिरिक्त जो त्रिकालातीत काल है वह भी ओंकार ही है।"

तैत्तरीय उपनिषद् में भी कहा है–"जो कुछ गेय है सब ओंकार

ही है। यज्ञों में सामगायन करने वाले ॐ का ही गायन करते हैं। गीति रहित जो ऋचायें हैं, उनमें भी ओम् शोम् कहकर ॐ का ही पाठ किया जाता है। अध्वर्यु यज्ञों में प्रत्येक कर्म के प्रति ओम् ऐसा पद उच्चारण करता है। ब्रह्मा भी जो अनुज्ञा देता है वह भी ओम् कहकर ही देता है।"

यही बात छान्दोग्यउपनिषद् में यों कही गयी है—"अध्वर्यु जो मन्त्र श्रवण कराता है, वह ॐ कहकर ही श्रवण कराता है। होता जो वेद मन्त्रों का पाठ करता है वह ॐ कहकर ही करता है। उद्गाथा जो साम के उद्गीथ का गायन करता है। वह ओंकार के गायन पूर्वक ही करता है।"

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा है—"देह में जो उभय हैं दो हैं—उन्हें प्रणव द्वारा ही जाना जा सकता है।"

अथर्व शिरसोपनिषद् में भी कहा है—'ॐ यह अक्षर सृष्टि के आदि में प्रयुक्त हुआ है।"

मैत्रायण्युपनिषद् में भी कहा है—"इसलिये ओम् इसी अक्षर से निरन्तर उपासना करे।"

नारायणोपनिषद् में भी कहा है—"ओम् से ही आत्मा को समर्पण करे।"

कहाँ तक कहें वेद पुराण तथा सम्पूर्ण शास्त्रों में प्रणव की ही महिमा गायी गयी है। ओंकार के अनन्त नाम हैं। उनमें से कुछ मुख्य मुख्य नाम यहाँ बताते हैं।

ॐ यह गोल वर्तुलाकार लिखा जाने से इसका नाम 'वर्तुल' है। दीर्घ और देर तक तार स्वर में उच्चारण करने से इसका नाम 'तार' है। बायीं ओर मुड़कर आता है इसलिये इसका नाम 'वाम' भी है। हंस कहते हैं जीव को, विशुद्ध ब्रह्म को भी, अतः उसका कारण होने से इसका नाम 'हंसकारण'

भी है। सब मन्त्रों मे यह आदि मन्त्र है। अथवा सभी
के आदि मे लगाने से इसका नाम 'मन्त्राद्य' भी है। 'प्रण
प्रसिद्ध ही नाम है। एक मात्र यही सत्य स्वरूप है, अतः प्र
का ही एक नाम 'सत्य' भी है। विन्दु शक्ति से युक्त हो
'विन्दुशक्ति' भी इसका नाम है। ॐ मे अ, उ, म् ये तीन अ
हैं। ये तीन अक्षर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश इन तीनों देवों
प्रतीक हैं, अतः इसका एक नाम 'त्रिदैवत' भी है। समस्त चरा
जीवो की उत्पत्ति प्रणव से ही हुई है, अतः इसका एक न
'सर्वजीवोत्पादक' भी है। (१) शिव, (२) शक्ति, (३) सू
(४) गणेश और (५) विष्णु, इन पच देवों की उपासना पचदेव
पासक स्मार्तगण सभी इस प्रणव द्वारा ही किया करते हैं अत
इसका एक नाम 'पचदेव' भी है। यही प्रणव नित्य है शाश्व
है निरन्तर रहने वाला है अतः इसका एक नाम 'ध्रु व' भी है
तीन अक्षरों वाला होने से इसका एक नाम 'त्रिक' भी है
कहाँ तक गिनावें सावित्री, त्रिशिखी, ब्रह्म, त्रिगुण, गुणबीजक
आदिबीज, वेदसार, वेदबीज परम्, पञ्चरश्मि, त्रिकूट, त्रिभव
भवनाशन, गायत्री, बीज पचांश, मत्रविद्याप्रसू, प्रभु, अक्षर
मातृकासू, अनादिदैवत तथा मोक्षद आदि इस प्रणव के अनेक
नाम हैं। यह मन्त्रराज, ज्ञानसार तथा भव भयनाशक है।
समस्त वेदोपनिषदों में सर्वत्र इसी की महिमा गायी है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो ! अब भगवती श्रुति एक सिद्धान्त
बताती है—"ॐ खं ब्रह्म।" ओंकार ख–आकाश–के सदृश है
और वही ब्रह्म है। इसमे तीन शब्द हैं। पहिला ओंकार, दूसरा
ख, तीसरा ब्रह्म। ये तीनो ही शब्द ब्रह्म वाचक हैं। ख का अर्थ
हुआ आकाश। आकाश यह जो पच भूतों में से अंतिम भूत
है, वह आकाश नहीं। यह आकाश तो उत्पन्न होता है और

य मे लुप्त होता है यह तो सादि है । जो ब्रह्म वाचक आकाश
वह तो अनादि है । जैसे भूत, भविष्य और वर्तमान काल के
। रूप है, किन्तु एक इन तीनो से भी परे काल है । उसे
तातीत काल कह सकते हैं । सत्व, रज और तम तीन
। हैं । ये सादि हैं, किन्तु एक गुणातीत नित्य सत्वस्थ है वह
ादि है । इसीलिये ब्रह्म का एक विशेषण नित्य सत्व है । इसी
ार पच भूतो वाला आकाश तो सादि तथा सान्त है इस
काश से परे एक अनादि सनातन आकाश है वही 'ख' ब्रह्म
वाचक है । वही परमब्रह्म परमात्मा है । यह मत तो भगवती
ी का है ।

इस विषय मे कुछ मतभेद है, उसे भी श्रुति दर्शाती है । एक
पि कौरव्यायणी हैं । उनके पुत्र ब्रह्मवेत्ता हैं । उनका मत यह
–कि ख शब्द व्यवहार में आकाश के अर्थ में ही प्रसिद्ध है ।
ातन-ख-अर्थात् पचभूतो से परे वाला सनातन आकाश यह
ण है अप्रसिद्ध है । सर्वसाधारण में सर्वत्र ख का अर्थ यही
चभूतों वाला आकाश लिया जाता है, जिसमें वायु विचरण
रता है अर्थात् अवकाश या पोल । जहॉ पर गौण और मुख्य
विवाद हो, वहॉं मुख्य अर्थ को ही प्रधानता दी जाती है ।
त ख शब्द से यहॉ पचभूतों वाले आकाश को ही ग्रहण
रना चाहिये ऐसा कौरव्यायणी सुत का मत है ।

श्रुति इसका खडन नहीं करती । श्रुति का कहना है अच्छा
ाहॉ ख का अर्थ सनातन मानो वहॉं ओंकार और ख मे विशेष्य
शेषण सम्बन्ध मानकर अर्थ करो । अर्थात् जो ओंकार है वही
आकाश है । दोनों का समान अर्थ है । किन्तु जहॉं ख का अर्थ
चभूतों वाला आकाश करो वह उपमा उपमेय रूप से अथ
लगाओ । जैसे ओंकार कैसा है, आकाश के समान सर्वत्र व्या-

पक, निर्लेप तथा अपरिच्छिन्न है। ऐसा अर्थ करने पर चाहे 'ख' को सनातन ब्रह्म अर्थ में लो अथवा पंचभूतों के अर्थ में लो ओंकार के साथ जोड़ने में कोई अन्तर नहीं पड़ता। जहाँ ख का अर्थ सनातन आकाश लोगे। वहाँ ओंकार, खं और ब्रह्म तीनों ही एक अर्थ के समान द्योतक होंगे। इसलिये श्रुति ख पर बल न देकर ओंकार पर ही बल देती है। श्रुति कहती हैं—ओंकार वेद है। वेद क्यों है? इसीलिये कि सृष्टि के आदि में एक ही वेद था वह ओंकार ही था। एक ही वर्ण था उसका नाम हंस' था। ओंकार का ही विस्तार चारों वेद हैं। वेद का मूल ओंकार ही है। इस बात को वेदवेत्ता ब्राह्मण गण जानते और मानते हैं।

इन ऋक्, यजु, साम और अथर्व नाम वाले वेदों को छोड़ भी दो। तो संसार में वेदितव्य—ज्ञातव्य—क्या है। किसे जानने के लिये समस्त साधन किये जाते हैं? वह वेदितव्य वस्तु परब्रह्म परमात्मा ही है। उन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के हेतु ही नाना प्रकार के जप, तप, स्वाध्याय प्रवचनादि किये जाते हैं। ब्रह्मचर्यादि वृहद् व्रतों का पालन किया जाता है। वह वेदितव्य विषय जिसके द्वारा जाना जाय वही वेद है। तो उस ब्रह्म का वाचक प्रणव है। प्रणव के ही द्वारा ब्रह्मज्ञान होता है इस अर्थ में भी प्रणव वेद ही है। तो उसे ब्रह्म कहो खं कहो ओंकार कहो एक ही बात है। अथवा खं ब्रह्म कैसा है? आकाश के सदृश निर्लेप, अपरिच्छिन्न, सर्वत्र व्यापक। ओंकार ब्रह्म का नाम भी है और प्रतोकोपासना में ओंकार प्रतीक भी है जैसे भगवान् का अर्चावतार। अर्चावतार प्रत्यक्ष प्रकट दिखायी देता है। ऐसे ही ॐ की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा भी करनी चाहिये और ओंकार को मंत्र मानकर उसका जप भी करना चाहिये यही 'ॐ ख ब्रह्म' इस अर्चाविग्रह मंत्र का अर्थ है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार पचम अध्याय के प्रथम 'ॐ ख ब्रह्म' ब्राह्मण का प्रवचन हुआ। अब आगे जेसे दूसरे प्राजापत्य ब्राह्मण में भगवान् प्रजापति देव, मनुष्य और असुरों को एक ही शब्द से उपदेश करेंगे। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

ओंकार ही सत्य ओम ही ब्रह्म पुरातन।
ओंकार ही जगत ओम तैं सृष्टि सनातन॥
ओंकार की करो उपासन मूर्ति ब्रह्म है।
ओंकार कूँ जपो मन्त्र यह सर्व श्रेष्ठ है॥
ओंकार के सरिस नहिँ, दूजो मन्त्र प्रसिद्ध है।
वेदितव्य ज्ञातव्य यह, वेद मन्त्र है सिद्ध है॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पचम अध्याय म
ॐ ख ब्रह्म नामक प्रथम ब्राह्मण समाप्त।

प्रजापति का देव, मनुष्य और असुरों को 'द' शब्द से उपदेश

[२५८]

त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ।।❀

(वृ० उ० ५ अ० २ ब्रा० १ म०)

छप्पय

लैन प्रजापति निकट गये उपदेश असुर सुर ।
ब्रह्मचर्य व्रत धारि बास करि पूछत सँग नर ॥
देवनि कूँ 'दा' कह्यो, कहें–का समुझे सुरगन !
देव कहें–करु दमन कर्यो उपदेश सु भगवन ॥
एव कहि फिरि नरनि तैं, पूछ्यो का "दा" अरथ है ?
'दान करो' प्रभु ने कह्यो, बोले नर यह मरम है ॥

❀ प्रजापति की देवता, मनुष्य और असुर ये तीन सन्तानें उनके समीप गयी । वहाँ उन्होने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके कुछ काल निवास किया । तदनन्तर देवताओ ने कहा—"आप हमे कुछ उपदेश करें।" प्रजापति ने उनसे केवल "द" शब्द कहा और पूछा —"इसका भाव समझ गये न ?" देवो ने कहा—"हाँ, समझ गये आपने हमको इन्द्रियो का दमन करने का उपदेश दिया है ।" प्रजापति बोले—"तुम ठीक ही समझे ।"

शरीर मे जहाँ व्रण होता है, वहीं दवाने से पीड़ा होती है। मनुष्यो में तीन प्रकृति के पुरुष होते हैं। सात्विकी प्रकृति वाले देव सदृश हैं। क्योकि सात्विक प्रकृति ऊपर उठाती है। तामसिक प्रकृति वाले तमोगुणी होते हैं वे असुरों के सदृश हैं। और उनकी अधोगति होती है। जो राजस प्रकृति के रजोगुणी हैं, वे कर्म प्रधान होते हैं, उन पर बिना कर्म किये रहा नहीं जाता। वे एक क्षण भी बिना कर्म के रह नहीं सकते यह पृथ्वी कर्म प्रधान है, अतः मनुष्य योनि कर्म करने के ही लिये है। मनुष्यों मे अधिकाश रजोगुण प्रधान ही रहते हैं। देवता प्रायः काम प्रधान होते हैं, मनुष्य क्रोध प्रधान और असुर प्रायः शरीर से आसक्ति करने वाले अपने का ही भला चाहने वाले लोभी होते हैं। देवता, असुर और मनुष्य प्रकृति के पुरुप पृथक पृथक् भी होते हैं प्रधानता के कारण वैसे मनुष्यों मे कभी दैवी प्रकृति का बाहुल्य होता है, कभी आसुरी प्रकृति का और कभा मानवी प्रकृति बढ जाती हे। जो जैसी प्रकृति का होता है उसे वैसा ही सयम बताया जाता है।

माता के तीन प्रकार के पुत्र हैं। एक तो हृष्ट पुष्ट शारीरिक श्रम करने वाला तीव्र अग्नि प्रधान है। दूसरा मानसिक कार्य करने वाला साधारण अग्नि वाला है। तीसरा रोग ग्रस्त–रुग्ण कुछ भी काम न करने वाला, सदा शैया पर पडा रहने वाला मन्दाग्नि वाला है। माता के लिये तीनों ही प्यारे हैं। वह तीनों को ही आहार देती हे। किन्तु उनकी अग्नि के अनुसार उनके आहारों में भेद कर देता है। वह भेद पक्षपात से नहीं उन पुत्रो के कल्याण के लिये ही करती है। जो शारीरिक श्रम करने वाला हृष्ट पुष्ट है, उसे आहार पौष्टिक घृत दुग्ध प्रधान देती हे। मध्याग्नि वाले मानसिक श्रम मे निरत पुत्र को फल, रस तथा अन्य

सागादिक देती है। जो रुग्ण है, मन्दाग्नि वाला है, उसे दाल का पानी, रोटी की पपड़ी, पतली खिचड़ी आदि सुपाच्य बहुत शीघ्र पचने वाला हलका भोजन देती है। आहार तीनों को ही देती है। तीनों से कहती है आहार ले जाओ। किन्तु रोगी से कहो अपने बड़े भाई की थाली में बैठकर आहार करो। तो वह कह देगा—"यह आहार मेरा नहीं है, यह मेरे बड़े भाई का है। यह मध्यम भाई का है, यह मेरा है। आहार एक ही है, किन्तु प्रकृति भिन्न-भिन्न होने से आहारों में भेद हो जाता है।"

तीन रोगी हैं, तीनों चिकित्सक के पास जाते हैं। तीनों के ही रोग देखकर वह त्रिदोष नाशक एक ही औषधि देता है, किन्तु तीनों की प्रकृति की भिन्नता देखकर अनुपान मे भेद कर देता है। कफ प्रधान से कहेगा। इसे शहद के साथ खाना। क्योंकि शहद कफघ्न है। पित्त प्रधान को कहेगा "मिश्री के चूर्ण के साथ खाना। क्योंकि सिता–मिश्री–पित्त नाशक है। वात प्रधान को कहेगा–घृत के साथ खाना क्योंकि घृत तैल वात नाशक हैं। एक ही वस्तु प्रकृति भेद से भिन्न-भिन्न भावनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न फल वाली हो जाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रजी जब कंस की सभा में गये, तो एक ही श्रीकृष्ण के सभी ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न रूपों मे दर्शन किये। सभा मे बैठे हुए जो मल्ल थे उन्हें श्रीकृष्णचन्द्र वज्र के सदृश कठोर शरीर वाले दिखायी दिये। सर्व साधारण मनुष्यों को नररत्न–मनुष्यों में अत्यन्त श्रेष्ठ व्यक्ति–प्रतीत हुए। युवती स्त्रियों को वे साक्षात् मूर्तिमान दृष्टिगोचर हुए। जो इनके संगी साथी बाल गोपाल थे उन्हें अपने सगे सम्बन्धी प्रिय स्वजन ही दीखे। दुष्ट राजाओं को ऐसा प्रतीत हुआ मानों कोई दुष्टों को दण्ड देने वाला कठोर

शासक आ रहा है। वहाँ जो देवकी वसुदेव तथा और भी माता-पिता के सदृश बड़े बूढ़े बैठे थे उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों हमारा प्यारा दुलारा शिशु आ रहा है। कंस को ऐसा प्रतीत हुआ मानो मुझे मारने साक्षात् यमराज ही आ रहे हैं। जो अज्ञानी थे उन्हें उनका रूप विराट् के सदृश दिखायी दिया। उस सभामें जो ज्ञानी ध्यानी योगीगण बैठे थे उन्हें श्रीकृष्ण अपने परम तत्व ही दिखायी दिये। और जो भगवान् के भक्त उनके अनुगत वृष्णि वंशी थे उन्हे भगवान् के दर्शन अपने इष्टदेव के रूप मे हुए। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार हास्य, वीर, वात्सल्य, भयानक, वीभत्स, शान्त और प्रेम भक्ति सहित जो दश रस हैं। उन दशो रस वालों को एक ही श्रीकृष्ण के दर्शन अपने-अपने रस की प्रकृति के सदृश ही हुए। कहावत है-'चोर की दाढ़ी मे तिनका, होता है। कह दो जिसकी दाढ़ी में तिनका होगा वही चोर है। चाहे दाढ़ी में तिनका न भी हो तो चोर के मन मे तो तिनका बेठा ही है वह शीघ्रता से अपनी दाढ़ी को झारने लगेगा। किसी भी शब्द का मनुष्य अपनी भावनानुसार ही अर्थ करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी सभी प्रजापति की ही सन्तानें हैं। ब्रह्माजी सभी के पिता ही नहीं पितामह हैं। वे सभी का कल्याण चाहते हैं। एक बार देवता, मनुष्य और असुर तीनों उनकी सन्तानें उपदेश लेने की इच्छा से ब्रह्माजी के समीप गये। सभी मे कुछ न कुछ त्रुटि रहती ही है। अपने बड़ो के पास इसीलिये जाते हैं, कि वे हमारी त्रुटि को समझकर उसे मिटाने का उपाय बतावें। तीनों ने जाकर प्रजापति के पादपद्मो में साष्टाङ्ग प्रणाम किया और निवेदन किया—भगवन्! हम आपसे कुछ उपदेश प्राप्त करने की इच्छा से

आपकी सेवा मे उपस्थित हुए हैं। हमारे लिये क्या आज्ञा है ?"

तब भगवान् प्रजापति ने कहा—"देखो, शास्त्र का ऐसा नियम है, अपात्र को, असंयमी को–उपदेश न करे। जो न्यून-से न्यून अपने समीप एक वर्ष तक नियम संयम पूर्वक निवास न करे, उसे उपदेश न करे। तुम ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए कुछ काल यहाँ निवास करो, फिर मैं तुम्हें उपदेश करूँगा।"

प्रजापति की ऐसी आज्ञा पाकर वे तीनो नियम संयम पूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए वर्ष पर्यन्त वहाँ रहे। एक वर्ष पूरा होने पर सर्वप्रथम देवता ब्रह्माजी की सेवा मे समुपस्थित हुए और बोले—"भगवन् ! यदि हम उपदेश के योग्य हो गये हों, तो हमे उपदेश देने की कृपा करें।"

यह सुनकर भगवान् प्रजापति ने उनसे केवल "द" यह शब्द कहा। और पूछा—"तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये हो न ?"

देवताओं ने कहा—"हाँ, भगवन् ! समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा – "क्या समझ गये ?"

देवताओं ने कहा—"हम यही समझे कि आप हमें इन्द्रियों के दमन करने का उपदेश दे रहे हैं। आपका अभिप्राय है हम दमन करें।"

प्रजापति ने कहा—"तुमने यथार्थ समझा, ऐसा ही करना।"

यह सुनकर देवता अपने स्थान को चले गये।

इस पर शौनकजी ने पूछा—"देवताओं ने एक 'द' से दमन अर्थ कैसे निकाल लिया ?"

सूतजी ने कहा—' मुनियो ! अपनी त्रुटि का बोध व्यक्तियों को स्वय होता है। देवता भोग प्रधान होते हैं। उन्हें अपनी दुर्बलता का ज्ञान था। उनके हृदय में भोगवासना का चोर बैठा

था। प्रजापति के 'द" कहते ही उन्होंने अनुभव किया पितामह हमें इन्द्रियों का दमन करने को कहते हैं। उन्होंने अपनी दुर्बलता की दमन को ही ओषधि समझा, इसलिये 'द' कहते ही उन्हें दमन का बोध हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, फिर क्या हुआ ? मनुष्य और असुरों को प्रजापति ने क्या उपदेश दिया ?"

सूतजी बोले—"देवताओं के चले जाने के पश्चात् मनुष्य भी प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने भी उपदेश देने की प्रार्थना की। तब प्रजापति ने उनको भी वही एक शब्द "द" कहकर पूछा—तुम मेरे उपदेश का अभिप्राय समझ गये न ?"

मनुष्यों ने कहा—"हाँ भगवन्! हम समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा—"क्या समझे ?"

मनुष्यो ने कहा—"भगवन्! आपने हमसे यही कहा कि सदा दान किया करो।"

प्रजापति कहा—"तुम सत्य ही समझे। ऐसा ही किया करना।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मनुष्यों ने 'द' से दान ही क्यों समझा ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इस पृथ्वी पर मनुष्य योनि में तीन ही स्थानों से पुरुष आते हैं। स्वर्ग से, नरक से तथा पृथ्वी से। देवयोनि से कुछ पुण्य शेष रहने पर पुण्यात्मा पुरुष पृथ्वी पर धकेल दिये जाते हैं, उनकी प्रकृति देव प्रकृति होती है। वे दान देकर परम हर्षित होते हैं, वे सदा अत्यन्त मधुर वाणी में हैं। देव पूजन मे उनकी अत्यन्त रुचि होती है तथा

अतिथि अभ्यागतों को तृप्ति पूर्वक भोजन कराने में उन्हें परम उत्साह होता है।"

जो मानुषी प्रकृति के होते हैं, उन्हें अपने तथा अपने सगे सम्बन्धियों को भोजन कराने में, देने में प्रसन्नता होती है और आसुरी प्रकृति के पुरुषों को केवल अपने प्राणों के पोषण में ही प्रसन्नता होती है। मनुष्यों में यही एक दुर्बलता है, कि स्वभावतः फल की इच्छा रखने वाला कृपण होता है। अतः मनुष्य अपनी कृपणवृत्ति की दुर्बलता को स्मरण करके समझ गये, कि प्रजापति कहते हैं—"कृपणता का परित्याग करके यथा शक्ति दान दो, सबका भाग निकालकर संविभाग पूर्वक उपभोग करो।" इसीलिये उन्होंने "द" से दान का ही अर्थ लगाया।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, असुरों को प्रजापति ने क्या उपदेश दिया ?"

सूतजी ने कहा—"असुरों के पूछने पर भी प्रजापति देव ने उनसे "द" शब्द ही कहा और उनसे पूछा—तुम लोग समझ गये न ?"

असुरों ने कहा—"हाँ, भगवन्! समझ गये।"

प्रजापति ने पूछा—"क्या समझे ?"

असुरों ने कहा—"आपने हमसे यही कहा, कि "कि तुम सभी प्राणियों पर दया किया करो।"

शौनकजी ने पूछा—"द" शब्द से असुरों ने दया का ही अर्थ कैसे लगाया ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! असुर तो स्वभाव से ही क्रूरकर्मा निर्दयी होते हैं। वे अपनी दुर्बलता अनुभव करते थे। जब प्रजापति ने 'द' कहा तो वे समझ गये। ब्रह्माजी हमें दया

करने का उपदेश देते हैं। इस पर प्रजापति ने कह दिया—"तुमने सत्य ही समझा, तुम सदा ऐसा ही किया करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह तो आख्यायिका हुई। अब भगवती श्रुति इस आख्यायिका का सार उपदेश बताती हुई कहती है—संसार में दमन, दान, दया ये ही सार हैं। इसीलिये प्रजापति ने तीन बार द, द, द ये शब्द कहे। यह भगवान प्रजापति का उपदेश देव, मनुष्य, असुर अथवा दैवी, मानवी तथा आसुरी प्रकृति वाले सभी पुरुषों को इन्द्रियों का दमन करना चाहिये। यथाशक्ति धन का दान करना चाहिये और प्राणिमात्र पर दया करनी चाहिये। प्रजापति के द, द, द इस उपदेश की स्मृति गरजते हुए मेघ सदा कराते हैं। वे मानो द, द, द ऐसी दैवी वाणी द्वारा प्रजापति के उपदेश की घोषणा कर रहे हों, उनका अनुवाद कर रहे हों। हे मनुष्यो ! दमन करो, दान दो और जीवों पर दया करो। इस प्रकार दम, दान और दया तीनों की ही शिक्षा लो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार प्रजापति ने मानों नरक के द्वार भूत काम, क्रोध और लोभ इन तीनों को जीतकर दमन, दान और दया इन तीनों का उपदेश दिया। इस प्रकार यह प्रजापति के उपदेश की कथा कही। अब आगे जैसे हृदय आदि की उपासना बताई गयी है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। आशा है आप सभी विप्र वृन्द इस उपासना प्रकरण को साव-धानी के साथ श्रवण करने की सहृदयता प्रदर्शित करेंगे।

छप्पय

पुनि असुरनि तैं कह्यो शब्द "दा" का समुझे तुम।
असुर कहैं—प्रभु ! दया करो यह ही समुझे हम॥
तुम सब समुझे सत्य दमन अरु दया दान भल।
मेघ गर्जना करें प्रजापति शासन प्रति पल॥
दा दा दा कहि गर्जिकें, दमन दया नित दान दें।
इन साधन करि सबहिं जन, भवसागर तरि प्रेम तैं॥

—०—

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय का
द्वितीय प्राजापत्य ब्राह्मण समाप्त ।

हृदय सत्यादि ब्रह्मोपासना

(२५६)

एष प्रजापतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्मैतत् सर्वं तदेतत् त्र्यक्षरं९ हृदयमिति हृ इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥*

(बृ० उ० ५ अ० ३ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

हृदय प्रजापति ब्रह्म तीनि ये अक्षर उत्तम ।
एक शब्द हृ कह्यो हरहिं बलि अन्य स्वजन सम ॥
दूसर है 'दा' शब्द देहिं सब ताहि स्वजन गन ।
तीसर 'यम्' यह शब्द स्वरग कूं जाइँ जानि जन ॥
हृदय नाम अक्षरनि जब, ऐसे गुनगन भव्य हैं ।
हृदय ब्रह्म की उपासन, करें होंइ ते दिव्य हैं ॥

---

* यह जो हृदय है वही प्रजापति है, वही ब्रह्म है, इसी को सर्व भी कहते हैं। हृदय में 'हृ' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। 'हृ' जो एक अक्षर है जो इसके भाव को जानता है उसके प्रति स्वजन तथा अन्य जन बलि आहरण-समर्पण-करते हैं। 'द' दूसरा एक अक्षर है जो इसके भाव को जानता है उसे स्वजन अन्यजन देते ही रहते हैं। 'यम्' तीसरा एक शब्द है, जो इसके भाव को जानता है वह स्वर्गलोक को जाता है।

ब्रह्म सर्वव्यापक है। श्रुति इस अखिल विश्वब्रह्माण्ड को लक्ष्य करके कहती है—"यह सब का सब ब्रह्म ही है। किन्तु सब ब्रह्म होने पर हमें ब्रह्म का साक्षात्कार क्यों नहीं होता। साक्षात्कार तो हमें जड़ पदार्थों का ही होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार हमें इसलिये नहीं होता, कि हम साधन नहीं करते। अपने कर्तव्य से च्युत रहते हैं। शास्त्रों में मनुष्य का एक नाम साधक भी बताया है। अर्थात् जो ब्रह्म साक्षात्कार के लिये साधन करे, वही वास्तव मे मनुष्य है। जो ब्रह्म प्राप्ति के लिये तो प्रयत्न करे नहीं। निरन्तर नौन, तेल, लकड़ी जुटाने के लिये धन प्राप्ति का, सतान पैदा करने के लिये पत्नि प्राप्ति का और मरकर स्वर्ग मे दिव्य सुख भोगने के लिये उत्तमलोक प्राप्ति के प्रयत्नों में ही जुटा रहे तो वह वास्तविक साधक नहीं ऐसे साधक को ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी उसका साक्षात्कार सम्भव नहीं।

देखो, अग्नि सर्वव्यापक है। कोई ऐसा स्थान नहीं जहाँ अग्नि न हो। जल मे, स्थल मे, आकाश मे, पाताल मे, यहाँ तक कि अपने शरीर के भीतर भी अग्नि व्याप्त है, किन्तु जब तक मन्थन न करो-उसे प्रकट करने को साधन-संघर्ष न करो, तब तक अग्नि का साक्षात्कार नहीं होगा सर्वत्र व्याप्त रहने पर भी अग्नि प्रकट न होगी।

एक राजा थे, उन्होने अपने बूढ़े मन्त्री से पूछा—"परमात्मा हैं ?" मत्री ने कहा—"अवश्य हैं। सर्वत्र हैं।" राजा ने कहा—"यदि हैं और सर्वत्र व्याप्त हैं तो उन्हें हमें दिखाओ।" मन्त्री ने कहा—"मैं दिखा नहीं सकता। बहुत से साधकों ने परमात्मा का साक्षात्कार किया है।" राजा ने कहा—"जिन्होंने साक्षात्कार किया हो, जो हमें परमात्मा को दिखा सकते हों, उन्हें

हमारे पास ले आओ। छै महीने में नहीं लाओगे तो तुम्हें सूली पर चढ़ा दिया जायगा।"

राजा से विदा लेकर मन्त्री सर्वत्र गये, किन्तु किसी ने भी यह नहीं कहा कि हम परमात्मा को दिखा सकते हैं। मन्त्री हताश होकर खिन्न मन से मन ही मन परमात्मा का स्मरण करते हुए सूली पर चढ़ने के लिये अपने नगर को लौट रहा था। तभी एक बिना जल के–कीच वाले–तालाब में–एक तीन-चार वर्ष के बहुत ही सुन्दर बालक को बैठे देखा। बालक अपने शरीर पर तालाब की कीच को लपेट रहा था। इससे उसका सुवर्ण जैसा शरीर बगुले के पंख जैसे धुले स्वच्छ कपड़े कीच में सन रहे थे। मन्त्री ने कहा—"बच्चे! तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो? अरे, कीच में अपने सुन्दर शरीर को सफेद वस्त्रों को क्यों बिगाड़ रहे हो?" लड़के ने मन्त्री की बात सुनी ही नहीं। तब मन्त्री ने उसे डाँटकर कहा—"ओ बच्चे! मैं तुझसे ही कह रहा हूँ, यह मूर्खता क्यों कर रहा है।"

बच्चे ने कहा—"कैसी मूर्खता?"

मन्त्री ने कहा—"मिट्टी से शरीर को वस्त्रों को गन्दा क्यों कर रहा है। यह मूर्खों का काम है।"

बच्चे ने कहा—"यदि मैं मिट्टी में मिट्टी को मलकर मूर्खता कर रहा हूँ, तब तो सभी मूर्खता करते हैं। यह शरीर भी मिट्टी से बना है, अन्न भी मिट्टी है। मनुष्य मिट्टी के शरीर में मिट्टी क्यों डालते हैं। वस्त्र भी मिट्टी से बने हैं। शरीर भी मिट्टी का है इसमें मिट्टी मलना मूर्खता है तो सभी मूर्ख हैं।"

मन्त्री की इस उत्तर से आँखें खुलीं। वे सोचने लगे यह लड़का साधारण लड़का नहीं। यह ज्ञानी है सम्भव है इसके

द्वारा मेरा काम हो जाय। अतः मन्त्री ने कहा—"अच्छा, बच्चे ! यह बताओ, परमात्मा है ?"

बच्चे ने कहा—"यह भी कोई पूछने की बात है। परमात्मा यत्र-तत्र-सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है।"

मन्त्री ने कहा—"तुम परमात्मा को दिखा सकते हो ?"

बच्चे ने कहा—"अवश्य दिखा सकता हूँ।"

मन्त्री न बच्चे को कीच से उठाया। उसे स्नान कराया। स्वच्छ वस्त्र पहिनाये। गोद में लेकर राजा के पास गया। राजा ने मन्त्री को देखते ही पूछा—"ईश्वर को दिखाने वाले किसी को लाये ?"

मन्त्री ने कहा—"राजन् ! परमात्मा वो सर्वत्र व्याप्त है, उसे तो यह बचा ही दिखा सकता है।"

राजा ने बच्चे से पूछा—"तुम परमात्मा को दिखा सकते हो ?"

बच्चे ने कहा—"अवश्य दिखा सकता हूँ।"

राजा ने पूछा—"परमात्मा कहाँ रहता है ? क्या काम करता है ? किसे वह दीखता है ?"

बच्चे ने कहा—"आप किस भाव से प्रश्न कर रहे हैं ? हमारी परीक्षा लेने या जिज्ञासु भाव से ?"

राजा ने कहा—"मैं जिज्ञासु भाव से पूछ रहा हूँ।"

बच्चे ने कहा—"जिज्ञासु भाव से ऐसे पूछा जाता है ? तुम पूछने वाले सिंहासन पर ऊपर बैठे हो। हम बताने वाले नीचे। ऐसे अश्रद्धालु के प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जाता। हमें ऊपर बिठाकर पूजा करो नम्रता से प्रश्न करो, हमें साष्टांग प्रणाम करके पूछो, तब उत्तर देंगे।"

राजा ने ऐसा ही किया। बच्चे को ऊपर बिठाकर पूजा की,

साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़कर पूछा—"भगवान् कहाँ रहते हैं ?"

बच्चे ने कहा—"यत्र-तत्र सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं।"

राजा ने पूछा—"वे क्या काम करते हैं ?"

बच्चे ने कहा—"वह ऊपर वाले को नीचे और नीचे वाले को ऊपर बिठाने का काम करते हैं। देखो, अब तक तुम ऊपर बैठे थे, हम नीचे बैठे थे। अब तुम नीचे बेठे हो, हम ऊपर बैठे हैं। यह परमात्मा का ही तो कर्तव्य हे।

राजा ने कहा—"परमात्मा को हमे दिखाइये।"

बच्चे ने कहा—"एक सेर कच्चा दूध मँगाइये।"

दूध आ गया। बच्चा दूध को उठाकर बार बार उसे देखने लगा।

राजा ने पूछा—"क्या देख रहे हो ?"

बच्चे ने कहा—"मैंने सुना है दूध मे घृत होता है, दूध की रग रग में घृत व्याप्त है उसे ही देख रहा हूँ।"

यह सुनकर राजा हँस पड़ा और बोला—"कितने भी ज्ञानी क्यो न हो, फिर भी लड़कपन की तुम्हारी बुद्धि कैसे जाय ? अरे, भैया! दूध में घृत अवश्य होता है, किन्तु वह जैसे तुम देख रहे हो, ऐसे नहीं दीखता। पहिले दूध को गरम करो, उसमें जामन दो। जब दही हो जाय तो उसे मथानी मे डालकर रई और रस्सी लाकर बार बार मथो। तब मक्खन पृथक् होगा। मट्ठा पृथक् होगा। मक्खन को निकालकर अग्नि पर गरम करो। उसे छन्ना से छानो। उसमे से छाछ पृथक् हो जायगी। तब घृत के दर्शन होंगे। यो हाथ में दूध लेकर घृत कैसे दीखेगा। घृत को देखने के लिये विविध साधन करने पड़ते हैं।"

बच्चे ने कहा—"मेरी बुद्धि तो बालबुद्धि है ही राजन्! तुम्हारी बुद्धि मुझसे भी अधिक बालबुद्धि है। अणु परमाणु में

शौनकजी ने पूछा—"हृदय की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"यह जो हृदय है, इसी को प्रजापति माने। इसी में ब्रह्म की भावना करे। यही ब्रह्म है।"

शौनकजी ने कहा—"श्रुति तो कहती है यह सर्व ब्रह्म है ?"

सूतजी ने कहा—"सर्व भी हृदय ही है। हृदय से ही सर्व की अनुभूति होती है। हृदय ही प्रजापति, ब्रह्म तथा सर्व है। हृदय जो नामी है उसकी पवित्रता के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या ? हृदय जो नाम है। इस नाम मे जो 'हृ' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। ये भी परम पवित्र अक्षर है। इन तीनों का ही बडा गूढ अर्थ है।"

शौनकजी ने पूछा—"हृदय के तीन अक्षरों का गूढ़ अर्थ क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्[1] जो विषयों को प्राप्त करावे उसका नाम हृदय है। यह हृदय लालकमल-पुष्कल-के सदृश अधोमुख वाला होता है। जाग्रत अवस्था में यह विकसित होता है और सुषुप्ति अवस्था मे सकुचित हो जाता है। अत्यन्त हर्ष में अधिक विकसित होकर खिल जाता है। विषयों के ससर्ग से इसमें एक ग्रन्थि पड जाती है। ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर वह ग्रन्थि अपने आप खुल जाती है। हृदय मे जो 'ह' 'द' और 'य' ये तीन अक्षर हैं। उनमे से 'हृ' शब्द हृञ् हरणे धातु से बना है। जिसका अर्थ हुआ अपने निज नेत्रादि इन्द्रियाँ और दूसरे शब्द स्पर्शादि तन्मात्रायें अपने अपने कार्यों को ला-लाकर जिसे समर्पण करें उसका नाम हृदय है। यह हृदय के हृ शब्द का अर्थ हुआ (स्वाः च अन्ये अस्मै अभिहरन्ति) जो उपासक हृ शब्द का अर्थ जान लेता है उसे अपने स्वजन बन्धु-बान्धव तथा

अन्य दूसरे लोग भी अपने आप ही बिना माँगे नाना प्रव
उपहार ला लाकर अर्पण करते रहते हैं। यह हृदय के एक
का अर्थ और उसके सम्यक् ज्ञान का फल हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"दूसरे शब्द 'द' का क्या अर्थ
उसके ज्ञान का क्या फल है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! डुदाञ् धातु दान अर्थ में प्र
होती है। 'द' शब्द उसी डुदाञ् धातु से आया है। इसका
अर्थ यही हुआ कि निज अपनी नेत्रादि इन्द्रियाँ तथा अन्य श
रूप रसादि तन्मात्रायें जिसे अपने अपने वीर्य को देती हो (
इति एक अक्षर स्वाः च अन्ये अस्मैददाति) जो 'द' के
तत्वतः अर्थ को जान लेता है उसे अपने स्वजन बन्धु तथा अ
लोग भी धनादि वस्तुओं को देते ही रहते हैं। यह हृदय के दूर
अक्षर 'द' का अर्थ और उसे जानने का फल हुआ।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हृदय के तीसरे 'यम्' शब्
का अर्थ उससे जानने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! इण धातु गति अर्थ में प्रयुक्त
होती है। उसी धातु से 'य' शब्द आया है। जो 'य' के इस
यथार्थ अर्थ को जान लेता है, उसकी सुगति होती है। अर्थात
उसे स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है। (य इति एक
अक्षर यः एव वेद स्वर्गम् लोकम् एति)।"

इस प्रकार जब इस हृदय वाक्य के प्रत्येक अक्षर का ऐसा
गूढार्थ और इसके एक अक्षर के भाव को जानने का ही जब
ऐसा फल है, तब इस 'हृदय' पूरे वाक्य को ब्रह्म मानकर जो
साधक उपासना करेंगे उन्हें ब्रह्मसाक्षात् न हो, तो यह असम्भव
है। अतः हृदय को प्रजापति, ब्रह्म, सर्व मानकर इसकी ब्रह्मभाव

से उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार सत्य की भी ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"सत्य की ब्रह्मभाव से उपासना कैसे करे?"

सूतजी ने कहा—"सत्य को महत् यक्ष मानकर उपासना करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यक्ष क्या?"

सूतजी ने कहा—"यहाँ यक्ष से यक्ष राक्षसों वाला यक्ष नहीं। यक्ष यहाँ पूजनीय अर्थ में है (यक्ष्यते=पूज्यते=इति यक्षः)। हृदय ब्रह्म को ही सत्य भी कहते हैं। यह सत्य ही महत् है, यही पूज्य यक्ष है। यह समस्त प्राणियों से प्रथम उत्पन्न होने वाला है, अर्थात् प्राणियों की उत्पत्ति से पहिले भी यह विद्यमान था। यही सत्य ब्रह्म है। जो ब्रह्म के इस सत्य स्वरूप को जानता है, वह इन समस्त लोकों को जीत लेता है। उस पुरुष के शत्रु उसके अधीन हो जाते हैं। असत्-अभावभूत-हो जाते हैं। किसके शत्रु वशीभूत-अधीन हो जाते हैं? जो इस भाँति उस सत्य ब्रह्म स्वरूप महत् यक्ष-जो पूज्य है और सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ है उसे भली भाँति जानता है। इसलिये कि वह ब्रह्म सत्य ही है। सत्य की उपासना करोगे तो उस उपासना का फल भी सत्य ही होगा। ये समस्त लोक सत्य ब्रह्म के ही द्वारा जीते हुए हैं। जो सत्य ब्रह्म का उपासक है, उसके द्वारा भी ये सभी लोक जीते जा सकते हैं। अत. सत्य को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह फल सहित सत्य ब्रह्म की उपासना कही गयी। अब आगे जैसे सत्य नाम के अक्षरों की

जो भूः, भुवः और स्वः ये-व्याहृतियाँ हैं। ये भी प्रणव का विस्तार हैं। प्रजापति ने तीनों वेदों का सार जानने की अभिल से तप किया-अर्थात् ज्ञान का पर्यालोचन किया। तो ऋक्वेद सारभूत भूः व्याहृति उत्पन्न हुई। यजुर्वेद से भुवः और साम से स्वः। अर्थात् 'भूः भुवः स्वः' ये तीनों व्याहृतियाँ तीनों वे का सार हैं। पीछे ऐसी ही बात एतरेय उपनिषद् में भी क गयी है—'प्रजापति ने तीनों वेदों में से सार निकालने के निमि उन्हें भली-भाँति तपाया। जैसे समस्त धातुओं के तपाने से उसः सार शुक्र वीर्य-उत्पन्न होता है। उसी प्रकार ऋक्वेद व तपाने से उसका शुक्र-सार-भूः व्याहृति, यजुर्वेद से भुवः औ सामवेद से स्वः व्याहृति शुक्र रूप से उत्पन्न हुई। जैसे गं दाना घास खाती है, तो सब खाद्य का सार दुग्ध बनकर प्रकट होता है उसी प्रकार प्रजापति ने वेदत्रयी रूप तीनों गौओं से ऋग्वेद से भूः व्याहृति रूप दुग्ध, यजुर्वेद से भुवः रूप दुग्ध, तथा सामवेद से स्वः गायत्री रूप दुग्ध दुहा। ये जो तीन लोक बताये गये हैं ये भी तीन व्याहृतियों के ही प्रतीक है। भूः व्याहृति से पृथ्वी लोक, भुवः व्याहृति से अन्तरिक्ष लोक तथा स्वः व्याहृति से देवलोक समझना चाहिये।

सत्य ही ब्रह्म है। सत्य शब्द में भी स ती य ये तीन अक्षर हैं मानो ये तीनों व्याहृतियों के स्वरूप ही हैं। अतः सत्य को सस्थान-आकृति-चिन्ह-मानकर आगे सत्य उपासना के सम्बन्ध में कहा जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पहिले सत्य ब्रह्म को प्रथमज कहा। अर्थात् सबसे पहिले सत्य की उत्पत्ति हुई। उत्पत्ति क्या हुई। सर्व प्रथम सत्य का ही दर्शन हुआ। अर्थात् सत्य त्रिकाल बाधित है। जब यह जगत् नहीं था सत्य तब भी था। जब यह

जगत् उत्पन्न हुआ तो इसके सबसे पूर्व सत्य विद्यमान था और जब यह जगत् न रहेगा–लुप्त हो जायगा–तब भी सत्य बना ही रहेगा। जगत् के लोप हो जाने पर भी सत्य का लोप नहीं होता।

जल को आप कहते हैं। उसका नार–या नीर–भी नाम है। पहिले नार ही-नार जल ही जल था। नार क्या ? जीवन–चैतन्य अथवा कल्याण। उस नार से सत्य प्रकट हुआ। अर्थात् जल ने सत्य की सृष्टि की। नार में अयन–स्थान–होने से वे श्रीमन्नारायण कहलाये। उनके नाभि कमल से प्रजापति-विराट् की उत्पत्ति हुई। उस प्रजापति ने इन्द्रादि देवों को उत्पन्न किया इसलिये वे देवतागण ब्रह्म की सत्य स्वरूप की ही उपासना करते हैं। वह 'सत्य' तीन अक्षरों वाला है। एक तो आदि का 'स' अक्षर, एक मध्य का 'ती' अक्षर, और एक अन्त का 'यम्' अक्षर।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! स और यम् के बीच मे तो हलन्त 'त्' शब्द है उसे 'ती' क्यों बताया गया ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! बिना स्वर के हलन्त अक्षरों का उच्चारण नहीं होता। इसलिये ईकार अनुबन्ध स्पष्ट उच्चारण के निमित्त है। हाँ, तो स, त् और यम्। ये तीन अक्षर हैं। इन तीनों में पहिला सकार और अन्त का तीसरा यकार ये सत्य के वाचक हैं। बीच का जो 'त्' है यह अनृत या मृत्युवाचक है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! 'त्' को आप मृत्यु वाचक क्यों बताते हैं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति समानता के कारण 'त्' को मृत्यु अथवा अनृत बताती है। अनृत में भी 'त' है और मृत्यु में भी 'त' शब्द है। मृत्यु के पर्यायवाची शब्द

दिष्टान्त, अत्यय, अन्त, पंचत्व, मृत, मृति, अस्त, निपात, त
आत्यविक आदि सबमें त है। इसलिये 'त' को अनृत-मृत्यु
माना है। परन्तु यह अनृत रूप 'त्' दोनों ओर सत्य से प
गृहीत है। जैसे 'स' भी सत्य है और 'य' भी सत्य है इन दो
के मध्य में 'त्' है। संसर्ग का दोष गुण होता ही है, फिर बहु
की प्राधान्यता मानी गयी है। इसलिये दोनों ओर से सत्य
घिरा होने के कारण अनृत रूप जो 'त्' है वह भी सत्य बहुल
है। इस प्रकार जो सत्य के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। उ
अनृत अथवा मृत्यु मार नहीं सकते। वे साधक सत्य के प्रभा
से अमर हो जाते हैं। अनृत उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता
यही सत्य शब्द के अर्थ जानने का प्रतिफल है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! सत्य तो अव्यय अदृश्य,
अमूर्त है। उपासना के लिये प्रतीक रूप से उसे कहाँ देखें?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! यह जो अन्तरिक्ष में प्रत्यक्ष
आदित्य देव-सूर्यनारायण-दृष्टिगोचर होते हैं वे सत्य स्वरूप
ही हैं। इस आदित्य मंडल में जो लाल दाढ़ी मूँछ वाला हिरण्मय
पुरुष है वह सत्य का ही प्रतीक है और मनुष्यों के दक्षिण नेत्र में-
ध्यान पूर्वक देखने पर जो एक पुरुषाकार आकृति दृष्टिगोचर
होती है वह चाक्षुष पुरुष भी सत्य का प्रतीक है। वह चाक्षुष
पुरुष नेत्र में प्राणों द्वारा प्रतिष्ठित है। यह प्राणों का ही प्रतीक है।
जब यह चाक्षुष पुरुष जीवात्मा इस वर्तमान शरीर को त्यागकर
उत्क्रमण करने लगता है तब उसे आदित्य मंडल शुद्ध ही दिखाई
देता है। सूर्य की जो रश्मियाँ हैं-किरणें हैं-वे उस पुरुष के
समीप नहीं आतीं। क्योंकि आदित्य मंडल वाला पुरुष और
दक्षिण नेत्र वाला पुरुष ये दोनों ही एक दूसरे के उपकार्य और
उपकारक हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"आदित्य मडलस्थ पुरुष और दक्षिण नेत्रस्थ पुरुष परस्पर मे उपकार्य और उपकारक कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"देखिये, आदित्य मडल वाला पुरुष तो अधिदैवत है और दक्षिण चक्षु मे दृष्टिगोचर होने वाला पुरुष अध्यात्म पुरुष है। ये अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष परस्पर में उपकारक हैं। यह जो चाक्षुष पुरुष है, यह प्राणों द्वारा आदित्य पुरुष का उपकार करता है, और आदित्य पुरुष अपनी किरणों द्वारा इसका उपकार करता है। यही आदित्य पुरुष और चाक्षुष पुरुष का अधिदैवत और अध्यात्म स्वरूप है। जो साधक इन दोनों के इन रूपो को भली भाँति जान लेता है, वह मृत्यु के समय जब उत्क्रमण करता है तो मोक्षस्थान के द्वारभूत जो आदित्य हैं और किरणें उनकी उपाधि भूता हैं। तो वह ज्ञानी उपासक आदित्य की उपाधिभूता किरणों को न देखकर उनके विशुद्ध रूप को ही देखता है। अज्ञानी पुरुषों के नेत्रों को तो उपाधिभूता आदित्य रश्मियाँ अपने तेज से ढक लेती है उनके नेत्र को प्रतिघात कर लेती हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं उनके नेत्रों को ये रश्मियाँ प्रतिघात करने म समर्थ नहीं होती अर्थात् उसके निकट नहीं आतीं। ये जो व्याहृतियाँ हैं उनकी इस आदित्य पुरुष क अगों के साथ कल्पना की गयी है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आदित्य पुरुष के अगों के साथ व्याहृतियों की कल्पना कैसे की गयी है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! पहिली व्याहृति है भूः, इसकी कल्पना आदित्य मडल के पुरुष के शिर के साथ की गयी है। क्योंकि शिर भा एक होता है और इस भूः व्याहृति में अक्षर भी एक है। दूसरी आहुति है भुवः। इसकी समता आदित्य पुरुष की भुजाओं के साथ की गयी है, क्योंकि भुवः व्याहृति में दो

अक्षर हैं और भुजायें भी दो ही होती हैं। तीसरी व्याहृति है स्वः है। इसकी आदित्य मडल पुरुष के चरणों के साथ समता की गयी है, क्योंकि 'स्' और वः इस व्याहृति में भी दो अक्षर हैं और चरण भी दो होते हैं। चरण शरीर का आधार हैं-चरणों पर ही शरीर का भार रहता है अतः चरणों को प्रतिष्ठा भी कहते हैं। आदित्य पुरुष के मानों यह दो शब्द वाली स्वः व्याहृति प्रतिष्ठा है (चरण हैं) एक गूढ़ रहस्य की बात और भी है। यह जो सत्यरूप ब्रह्म है। जिसकी उपासना आदित्य पुरुष चाक्षुप पुरुष तथा व्याहृति रूप में की जाती है। उसका एक 'अहर' यह उपनिषद्–गूढ़–नाम भी है। वह नाम 'अहर्' है। अहर् भी ब्रह्म का एक नाम है।

शौनकजी ने पूछा—"अहर्' का अर्थ क्या है ?"

सूतजी ने कहा–"अहर्' शब्द हन् हिंसागत्योः तथा ओहाक् त्यागे इन दोनों धातुओं से बनता है। इसका अर्थ हुआ मारना त्यागना। भाव यह है, कि जो ब्रह्म के अहः इस नाम के गूढ़ अर्थ को भली-भाँति जानता है वह पाप को मार देता है। पाप को त्याग देता है। जिस प्रकार आदित्यान्तर्गत पुरुष के शरीर के अवयवों की कल्पना तीन व्याहृतियों के साथ की गयी है। उसी प्रकार इस चाक्षुप पुरुष के अंगों की व्याहृति रूप अवयव के साथ समता की गयी है।"

शौनकजी ने कहा—"चाक्षुप पुरुष के अंगों के साथ व्याहृति-रूप अवयवों के साथ कल्पना कैसे की गयी है ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे पहिले की थी। यह जो दक्षिण नेत्र में दृष्टिगोचर होने वाला चाक्षुप पुरुष है उसका पहिली व्याहृति भूः उसका सिर है--क्यों कि सिर भी एक होता है और इस व्याहृति में अक्षर भी एक ही है। दूसरी व्याहृति जो भुजायें हैं,

क्योंकि इस व्याहृति में 'भु और वः' ये दो अक्षर हैं और भुजायें भी दो होवी हैं। तीसरी व्याहृति जो 'स्वः' है, यह उस चाक्षुप पुरुप के चरण (प्रतिष्ठा) हैं क्योंकि इसमे 'स' और 'वः' ये दो अक्षर हैं चरण भी दो ही होते हैं। जैसे आदित्य पुरुप का एक गूढ नाम अहः बताया वैसे ही इस चाक्षुप पुरुप का एक गूढ नाम 'अहम्' भी है। 'अहम्' यह सत्य ब्रह्म का एक नाम है। यह हन् हिंसागत्यो और ओहाक् त्यागे इन धातुओं से सम्पन्न होता है। अतः चाक्षुप पुरुप के 'अहम्' इस गूढ नाम के रहस्य को भली भाँति जान लेता है, वह पाप का मार देता है तथा सभी प्रकार के पाप को त्याग देता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह मैंने आपसे सत्य ब्रह्म की उपासना के सम्बन्ध मे आपको श्रुत्यर्थ बताया। इसमे आदित्य पुरुप और चाक्षुप पुरुष-जिनके गूढ नाम अहः और अह भी है उनके रूप में व्याहृति रूप अवयवों के साथ-प्रतीक रूप से उपासना करने का विधान है। अब हृदयस्थ मनोमय पुरुप की तथा अन्यों की जैसे ब्रह्मभाव से उपासना की जाती है उन सबके रहस्य को आगे बताया जायगा। ये उपासनायें बहुत गूढ हैं। इनका यथार्थ रहस्य तो कोई सच्चे उपासक जिन्होंने ये उपासनायें की हों, वे ही जान सकते हैं। यों अक्षरों का अर्थ कोई भी लगा ले जब तक कि इन्हें कार्य रूप म परिणित न किया जाय, तब तक जैसा होना चाहिये वैसा लाभ नहीं हो सकता।"

—:—

छप्पय

(१)

चाक्षुप अरु आदित्य परस्पर पुरुष प्रतिष्ठित।
रश्मिनि तैं आदित्य प्राण तैं चाक्षु प्रतिष्ठित॥
चाक्षुप ज्ञाता पुरुष अन्त रवि शुद्ध निहारै।
उभय पुरुष व्याहृतिनि अंग में विज्ञ विचारै॥
चाक्षुप अरु आदित्य इनि, पुरुपनि के वर अंग में।
श्रुति ने उपमा है दई, व्याहृतिनि के संग में॥

(२)

चाक्षुप अरु आदित्य पुरुष के शिर भूः सम हैं।
भू में अक्षर एक होइ सिर एक विदित हैं॥
भुव द्वै भुजा बताइँ कहे स्वः चरन उभय हैं।
अह और अहः नाम उभय के कहे गूढ़ हैं॥
गूढ़हु नामनि रहस कूँ, जे साधन जानत सतत।
वे मारें सव पाप कूँ, सकल पाप तिनिकूँ त्यजत॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय में चतुर्थ पंचम सत्य ब्रह्म संस्थान नामक ब्राह्मण समाप्त।

हृदयस्थ मनोमय तथा विद्युत् आदि में ब्रह्मोपासना

(२६१)

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च ॥*

(बृ० उ० ५ अ० ६ ब्रा० १ म०)

छप्पय

भाः-प्रकाश-ही सत्य मनोमय पुरुष हृदय-गत ।
है जौ धान समान सबनि को स्वामी अधिपति ॥
करि उपासना होइ उपासक तद्वत निश्चित ।
जानत विद्युत ब्रह्म पाप है जामें खण्डित ॥
धेनु रूप में वाक की, करै उपासन उपासक ।
तद्वत गुण होवैं अवसि, कहैं शास्त्र सब विचारक ॥

मन ही मनुष्यों के सुख-दुःख का एकमात्र कारण है। मन

---

* यह पुरुष मनोमय है, प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है, अन्तर्हृदय में वह धान तथा जौ के सदृश आकृति वाला है, वह सबका स्वामी है, सबका अधिपति है। वह उस सबका शासन करता है, जो भी कुछ जगत् में है।

के मानने पर ही पराजय है, मन के मानने पर ही विजय है। अच्छा बुरा सब मनके ही ऊपर निर्भर है। सम्बन्ध सभी मन से हो होते हैं। मन जिसे मित्र मान ले वह मित्र हो जाता है, मन जिसे शत्रु मान ले वह शत्रु हो जाता है। सामान्यतया मनके नो गुण बताये गये हैं। १–धैर्य–अर्थात् विकार का कारण उपस्थित हो जाने पर भी मन से विकृति को प्रकट न होने देना धैर्य है। २–उपपत्ति–अर्थात् यह करना चाहिये या न करना चाहिये इसे मानना चाहिये या न मानना चाहिये इस प्रकार की ऊहापोह का नाम उपपत्ति है। ३–अभिव्यक्ति–अर्थात् एक बार विस्मृत विषय को पुनः स्मरण करना अभिव्यक्ति कहलाती है। ४–विसर्ग–अर्थात् विपरीत नर्ग–भ्रान्ति। ५–कल्पना–अर्थात् मनोरथ वृत्ति, जो बात हुई नहीं है उसके विषय मे कल्पना करना। ६–क्षमा–अर्थात् अपने विरुद्ध कार्य होने पर भी मनसे बुरा न मानना, अपराधी को क्षमा कर देना। ७–सद्भावना–विवेक वैराग्यादि। ८–असद्भावना–रागद्वेषादि। ९–आशुता–निश्चय न कर सकना, अस्थिर भाव से रहना। ये नौ गुण मन के बताये गये हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों को अन्तःकरण अर्थात् भीतरी इन्द्रियाँ कहते हैं। संशय करना यह मन का विषय है, निश्चय करना यह बुद्धि का विषय है, गर्व करना यह चित्त का विषय है और अहंकृति का स्मरण करना अहंकार का विषय है। अन्तःकरण मात्र को भी मन कहते हैं। मन के अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीन रूप बताये हैं। इन्द्रियों में जिस मन को भगवत्विभूति बताया है वह मन का अध्यात्मरूप है। यह पञ्चभूतों को धारण करता है। चन्द्रमा मन से हुआ। अर्थात् चन्द्रमा मन का ही रूप है यह मन का अधिदैवत स्वरूप है। संकल्प विकल्प करना यह मन का अधि-

भूत स्वरूप है। मन सूक्ष्म शरीर ही है। दश इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और बुद्धि तथा मन इन सत्रह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। मन हृदय कमल में रहता है। वाणी से, चेष्टा से, संकेत से हृदयस्थ-भाव व्यक्त होते हैं। पत्नी, पुत्री, भगिनी तथा माता आदि में भेद मन ही करता है। ऐसे मन की ब्रह्मभावना से उपासना करनी चाहिये।"

सूतजी कहते हैं—"ब्रह्म का कोई व्यक्त एक स्वरूप नहीं है। ज्योतिस्वरूप प्रकाशमय ही जिसका स्वरूप है, उस परब्रह्म परमात्मा की उपासना मनोमय पुरुष के रूप में–विशुद्ध मन से–करनी चाहिये। अर्थात् राग द्वेषादि विषयों से विमुक्त हुआ विशुद्ध मन ही एक प्रकार से ब्रह्म का रूप है। वह मनोमय पुरुष भास्वर–सभी विषयों का अवभासक–है। वह हृदय के अन्तर्भाग में रहता है। यद्यपि वह इन चर्म चक्षुओं से दृष्टिगोचर नहीं होता, किन्तु विशुद्ध अन्तःकरण वाले जिन योगियों ने उसे ध्यान में देखा है उनका कहना है कि वह धान अथवा जौ के सदृश परिमाण वाला है। वह मनोमय पुरुष समस्त स्थावर जंगम का स्वामी है और अधिपति भी है।"

शौनकजी ने कहा—"जो स्वामी है वह अधिपति तो होता ही है। फिर सबका ईशान है, सबका अधिपति है यह पुनरुक्ति क्यों की?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! स्वामी में और अधिपति में किंचित् अन्तर है। किसी राज्य का कोई राजा स्वामी तो है, किन्तु वह शासन में सर्व स्वतन्त्र नहीं है, मंत्रियों और सचिवों की सम्मति से वह शासन करता है, वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से कुछ नहीं कर सकता। किन्तु जो अधिपति है किसी के ऊपर अवलम्बित नहीं अपनी इच्छा के अनुसार ही अनुशासन करता

है। किसी की अधीनता में शासन नहीं करता। सर्वस्वतन्त्रता से आज्ञा देता है, वही अधिपति स्वामी कहलाता है। यह मनोमय पुरुष ऐसा ही है। इसलिये यह जो भी कुछ ब्रह्मा से लेकर स्तम्भ पर्यन्त है इस सबका वह प्रकर्षता से–स्वतन्त्रता से–शासन करता है। जो उपासक उसकी इस भाव से उपासना करता है, वह वैसे ही गुणों वाला हो जाता है। यह हृदयस्थ मनोमय पुरुष की उपासना कही। अब विद्युत् में ब्रह्मभाव मानकर विद्युत् ब्रह्म की जैसे उपासना करनी चाहिये उसे बताते हैं।

यह जो विद्युत् है–बिजली चमकती है–इसे भी ब्रह्म मानकर इसकी ब्रह्म भावना से उपासना करनी चाहिये। इसका विद्युत् नाम क्यों है ? जब आकाश मेघाच्छन्न होता है, तो विद्युत् उसके अन्धकार को विदीर्ण करके प्रकाशित होती है, इसीलिये इसका विद्युत् नाम है। (विदानात्=अवखण्डनात् तमसो=मेघान्धकारं विदार्य, अवभासते=इति विद्युत्) जो उपासक विद्युत् में ब्रह्मभावना करके उसकी उपासना करता है। अर्थात् जैसे बिजली अन्धकार को नाश करके प्रकाश करती है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा अज्ञानान्धकार को नाश करके ज्ञान का प्रकाश प्रदान करते हैं। उस भावना से जो विद्युत् में ब्रह्मभाव करता है, वह इस आत्मा के अंतरायभूत–प्रतिकूल–जो पाप वृत्तियाँ हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अज्ञानान्धकार से आवृत हो गया है, उन पापों का नाश कर देता है, ब्रह्म को प्रकाशित कर लेता है। क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है और उसका उपासक भी उसी गुण वाला होता है। यह मैंने विद्युत् की ब्रह्मभावना से उपासना कही। अब धेनु रूप से वाणी की उपासना के सम्बन्ध में श्रवण करें।

वाणी की भी ब्रह्मभाव से उपासना बतायी गई है। किन्तु

यहाँ वाणी की तदुपाधिक धेनु के रूप में उपासना बतायी है। वाणी को तत्काल व्याही हुई गौ के रूप से उपासना करे। (धेनुरयात् नवप्रसूतिका) अच्छा, धेनु के तो चार स्तन होते हैं, वाणी के चार स्तन कौन-कौन से हैं? वाणीरूपी धेनु के १-स्वाहाकार, २-वषट्कार, ३-हन्तकार और ४-स्वधाकार ये चार कार मानों चार स्तन हैं। इनमें से स्वाहाकार और वषट्कार दो स्तनों के उपजीवी तो देवगण हैं। देवताओं के मुख जो अग्निदेव हैं, जब उनमें स्वाहा अथवा वषट् कहकर हविः दी जाती है तभी वे उसे ग्रहण करते हैं। देवताओं को हविः देने में वैसे तो १-स्वाहा, २-श्रौषट्, ३-वौषट और ४-वषट् चार शब्दों का प्रयोग होता है, कि श्रौषट् वोषट् और वषट् इन तीनों को वषट्कार के ही अन्तर्गत मानकर स्वाहा और वषट्कार ये ही दो वाणी रूपी धेनु के देवोपजीवी दो स्तन माने गये हैं। तीसरा वाणी रूपी धेनु का स्तन रूप शब्द हन्तकार है। भोजन करने के पहिले कुछ अन्न ब्राह्मण के निमित्त जो निकाला जाता है उसे हन्तकार कहते हैं। नित्य जो पाँच यज्ञ किये जाते हैं उनमें एक मनुष्य-यज्ञ भी है। मनुष्यों को जो अन्न दिया जाता है वह हन्तकार कहकर दिया जाता है। हन्त शब्द हर्ष और दया के अर्थ में प्रयुक्त होता है। फिर से कहने में और विषाद में भी प्रयुक्त होता है। (हन्त ते कथयिष्यामि दिव्याह्यात्म विभूतयः। हा हन्तहन्तनलिनीं गजउज्जहार) किन्तु हन्तकार में हन्त शब्द हर्ष और दया के अर्थ में ही लिया गया है। यह हन्तकार वाणी रूपी गौ का तीसरा स्तन है। इसके उपजीवी मनुष्य हैं चौथा स्तन स्वधाकार है। पितृगण अपना कव्य भाग स्वधा इस शब्द द्वारा ही ग्रहण करते हैं अतः स्वधाकार के उपजीवी पितृगण हैं। तत्काल व्याई गौ का तो वृषभ भी होना चाहिये क्योंकि वृषभ होगा तभी तो गौ

बच्चे को प्रसव करेगी, तो इस वाणी रूपी गौ का वृषभ है ? से इस वाणी रूपी धेनु का प्राण ही वृषभ है,क्योंकि प्र द्वारा ही वाणी वाक्यों को प्रसव करती है। प्राण के विना शब्द निकल ही नहीं सकते।

अच्छा, तत्काल व्याई धेनु का तो बछड़ा भी होना चाहि इस वाणी रूपी धेनु का बछडा कौन है ? बछड़ा जब धे स्तनो में मुख लगाता है तभी गौ पन्हाती है। तो इस वाणी धेनु का बछड़ा मन है। मन से जब पहिले किसी विषय आलोचन कर लेंगे, तभी वाक्य निकलेगा अतः मन को वाणी रूपी धेनु का बछड़ा समझना चाहिये। इस प्रकार साधन वाक्रूपी धेनु की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, व सबके लिये कामधुक् बन जाता है। वह देवता, मनुष्य औ पितर सभी की तृप्ति करने में समर्थ होता है। यह धेनु रूप वाक् की उपासना कही। अब अनहद शब्द की अथवा वैश्वान अग्नि की उपासना कही जाती है।

पुरुष के उदर के भीतर अन्न को पचाने वाली वैश्वानर अग्नि है। भगवान ने गीता में वैश्वानर अग्नि को अपना ही स्वरूप बताते हुए कहा है—"मैं ही वैश्वानर अग्नि होकर प्राणियों के उदरों में वास करके चार प्रकार के (भक्ष्य, पेय, लेह्य, चोस्य) अन्नों को पचाता हूँ। तो उदर की वह जठराग्नि खाये हुए अन्न को पचाती है। तुम चावल आदि को बटलोई में जल डालकर पकाने को रखो तो वह खुदुरु-खुदुरु ऐसा शब्द करता है। इसी प्रकार जब वैश्वानर अग्नि खाये हुए अन्न को पचाती है, उसका भी एक भीतर शब्द होता है। जिसे घोष कहते हैं। योगी लोग उस घोष में चित्त की वृत्ति को एकाग्र करके ध्यान करते हैं। वह शब्द कानों को बन्द करने पर सन्न-सन्न करता हुआ अब तक सुना

जा सकता है। इस जठराग्नि में ब्रह्मभावना करे अथवा वह जो घोष अनहद शब्द सुनायी देता है उसमें भी ब्रह्मभावना करे ऐसा करने से तद्गुण रूपता का प्राप्ति होती है। यह अन्तर्घोष प्राणवानों में ही होता है। जिसकी मृत्यु सन्निकट आ गयी हो जिसका प्राण इस शरीर का परित्याग करके अन्य शरीर में उत्क्रमण करने वाला हो, उस पुरुष का कान बन्द करने पर भी वह शब्द सुनायी नहीं देता। यह प्रसगोपात्त बात बतायी इस प्रकार वेश्वानर अग्नि में या घोष में ब्रह्म भावना बतायी। अब उपासनाओं द्वारा जो गतियाँ प्राप्त होती हैं प्रसगानुसार उनको बताते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जिस शरीर से उपासनादि साधन करते हैं, मरने पर वह शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है, उपासना के फल को कौन भोगता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! यह स्थूल शरीर तो कर्मों मे उपकरण है। कर्म तो प्राणों द्वारा इन्द्रियों द्वारा होते हैं। दश इन्द्रियाँ पाँच प्राण और मन तथा बुद्धि इन सत्रह का बना एक सूक्ष्म शरीर होता है, जीवात्मा इस सूक्ष्म शरीर द्वारा ही स्थूल देह से कर्म कराता है। जैसे कोई पात्र में भरे दही बूरे का उपभोग करे। जब तक दही बूरा नहीं खाता तभी तक पात्र का उपयोग है। दही बूरे को खा लेने पर पात्र को फेंक देते हैं फोड देते हैं। ऐसे ही यह स्थूल शरीर पात्र के सदृश है। कर्म हो जाने पर इस स्थूल शरीर को त्याग कर जीवात्मा सूक्ष्म शरीर के द्वारा लोकान्तरों में जाता है। परलोकों की प्राप्ति ही उपासना की गति है।"

शौनकजी ने पूछा—"मृत्यु के पश्चात् यह पुरुष किन लोकों में जाता है?"

सूतजी ने कहा—"जिन्होंने हृदय में, सत्य में, आदित्य में, व्याहृतियों में, तथा हृदयस्थ मनोमय पुरुष में अथवा अन्य किसी शास्त्रीय वस्तु में ब्रह्म भाव से उपासना की है। वह साधक पुरुष मृत्यु के पश्चात् वायु लोक में जाता है। वायु तो सर्वत्र परिपूर्ण है वह सर्वत्र भरा रहता है ऊपर के लोकों के मार्गों को अवरुद्ध करके अवस्थित है, किन्तु साधक के लिये वह मार्ग दे देता है। जैसे मृत्यु दंड प्राप्त पुरुष की कोठरी को बन्द करके पहरे वाला बैठा रहता है, किन्तु उच्च अधिकारी को देखते ही द्वार को खोल देता है, उसे मार्ग दे देता है। ऐसे ही वायु यद्यपि सर्वत्र कूट कूटकर भरा रहता है वह ऊपर के लोकों के मार्ग को अवरुद्ध करके स्थित है। किन्तु ब्रह्म भावना करने वाले साधक को देखकर वह उसे ऊपर जाने को मार्ग दे देता है। उस वायु मंडल में एक छिद्र हो जाता है, उस छिद्र से साधक पुरुष निकल कर ऊपर के लोकों को चला जाता है, वायुलोक से ऊपर सूर्यलोक है। वहाँ पहुँच जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! वायुलोक में वायु उसे ऊपर जाने को कितना बड़ा छिद्र कर देते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति बताती है, कि जितना बड़ा छिद्र रथ के पहिये के बीच में होता है, जिसमें धुरी घुसी रहती है उतना बड़ा छिद्र वायुलोक में हो जाता है, उसी छिद्र से सूक्ष्म शरीर से पुरुष ऊपर के लोकों में अर्थात् सूर्य मंडल में चला जाता है। वहाँ सूर्यलोक में भी सूर्य अपने घनीभूत प्रकाश से ऊपर के लोकों का मार्ग अवरुद्ध करके अवस्थित हैं। किन्तु ब्रह्म भावना वाले साधकों को वे भी छिद्र दे देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूर्य मंडल का छिद्र कितना बड़ा होता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! भगवती श्रुति उस छिद्र का आकार लम्बर नाम के बाजे के छिद्र के सदृश बताती है। प्रतीत होता है यह लम्बर बाजा मुख से बजने वाला बाँसुरी से लम्बा तुरही के समान होता होगा। भाव इतना ही है, कि यह छिद्र वायु मंडल से छोटा ही होता है। उस छिद्र से वह सूर्यलोक से ऊपर के लोकों में होता हुआ चन्द्रलोक में पहुँच जाता है। चन्द्र लोक भी अपनी धर्मभूत शीतल किरणों के द्वारा ऊपर के लोकों के मार्ग को अवरुद्ध करके अवस्थित हैं, किन्तु ब्रह्म भावना वाले साधक को देखकर वे भी उस ऊपर जाने के लिये छिद्र रूपी मार्ग दे देते हैं। उस छिद्र से वह साधक पुरुष अशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! चन्द्रलोक का छिद्र कितना बड़ा होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! भगवती श्रुति उसका आकार दुन्दुभि-नगाड़े-के छिद्र के सदृश बताती है। दुन्दुभि-जिसे आनक भेरी भी कहते हैं उसमें सूक्ष्म-सा छिद्र होता है। वैसे ही छिद्र द्वारा वह साधक उस अशोक तथा अहिम लोक में पहुँचता है। जहाँ शारीरिक तथा मानसिक दुःखों का सर्वथा अभाव होता है। और उस लोक मे वह शाश्वत काल तक, अनन्त काल तक, सनातन काल तक नित्य निवास करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! पृथ्वी से जाने पर उस साधक के (१) वायुलोक, (२) सूर्यलोक, (३) चन्द्रलोक और (४) अशोक अहिम लोक ये चार ही विश्रान्ति स्थल हैं क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जैसे एक राजधानी से दूसरी

राजधानी को कोई यात्री जाता है, मार्ग में अनेक स्थानों पर अपने लिये अपने सामानों के लिये वाहन बदलने पड़ते हैं, किन्तु जब कहीं संक्षेप मे बताना होता है, तो मुख्य-मुख्य बड़े स्थानों का ही नाम गिना देते हैं, कि हम वहाँ होकर आये। यहाँ श्रुति ने अत्यन्त सक्षेप मे चार ही स्थानों का उल्लेख किया। वैसे अन्यत्र जाने के स्थल और भी कई बताये हैं। उदाहरण के लिये छान्दोग्य उपनिषद् मे इन १३ स्थानों का उल्लेख है। जैसे पृथ्वी लोक से साधक पुरुष चला तो वह (१) अर्चि अभिमानी देवताओं के लोक मे फिर (२) दिनाभिमानी तदनन्तर (३) शुक्ल पक्ष, (४) उत्तरायण, (५) सवत्सर, अभिमानी देवताओं क द्वारा (६) वायुलोक मे फिर (७) आदित्यलोक मे तब (८) चन्द्रलोक मे फिर (९) विद्युत्, (१०) वरुण, (११) इन्द्र, (१२) प्रजापति तब (१३) अमानवलोक जिसे अशोक और अहिम भी कहते हैं उसमें प्राप्त होता है। इनमे से बारह तो अतिवाहिक कहे जाते हैं अर्थात् ये जाने के मार्ग हैं अतिम शाश्वत सनातन स्थान है।

अब प्रसगानुसार परमलोक की प्राप्ति का एक सरल सुगम उपाय दया करके श्रुति बताती है। अच्छा ज्वर तो प्रायः सभी को आता है। अज्ञानी पुरुष हाय हाय करके मैया बप्पा चिल्लाते-चिल्लाते ज्वर मे दु:ख मानकर रोते रहते हैं। उनका वह ज्वर नरक का कारण होता है। उपासक को चाहिये कि ज्वर आ जाय और उससे शरीर तपने लगे तो उसमे यह भावना करे, कि ओ हो! यह तो बड़ा अच्छा हो रहा है मेरा स्वतः तप हो रहा है। तपस्वी तो चारों ओर अग्नि जलाकर ऊपर सूर्य के ताप से शरीर को तपाते हैं, मेरा तो सम्पूर्ण शरीर भीतर की ही अग्नि से तप रहा है। जो ऐसी भावना करके दृढ़ निश्चय कर लेता है,

वह भी तप की भावना करने से परमलोक को जीत लेता है। संसार में भावना ही तो प्रधान है।

एक दूसरी भावना और बताते हैं। मरणासन्न पुरुष जिसने जीवन भर अग्निहोत्रादि शुभ कर्म किये हैं-वह मरने से पूर्व सोचे-ओ हो! अब मैं मर रहा हूँ। जब मर जाऊँगा तो ऋत्विक् तथा मेरे सगे सम्बन्धी मेरा अन्तिम संस्कार करने मुझे वन में ले जायगे। वन में जाना तपस्वियों का कार्य है, मैं वन मे जाने वाला तपस्वी हो जाऊँगा। इस प्रकार मरने के पूर्व वन मे जाने की जो दृढ़ भावना कर लेता है यह भी उसका परम तप है, जो ऐसा जानकर दृढ निश्चय कर लेता है, वह भी परमलोक को जीत लेता है।

अब तीसरी एक भावना बताते हैं। मरने पर स्थूल शरीर मृतक हो जाता है, सूक्ष्म शरीर से पुरुष जब तक उसे अग्नि में जलाते नहीं तब तक वह उसे देखता रहता है। जब अपने शरीर को सगे सम्बन्धी अग्नि मे जलाने लगे तब ऐसी भावना करे—"ओ हो! कितना अच्छा हो रहा है। तपस्वी तो भूख प्यास के तथा अग्नि के ताप से शरीर को तपाते हैं। मेरा शरीर तो साक्षात् अग्नि मे जल रहा है। शरीर का अग्नि मे जलना कितना भारी तप है। जो ऐसी भावना करता है, निश्चय उसका शरीर जलना परम तप हो जाता है, उसी भावना के प्रभाव से वह परमलोकों को जीत लेता हैं। इस प्रकार ज्वर मे तप की भावना, मृतक को जलाने के लिये वन में ले जाने मे तप की भावना और मृतक शरीर को अग्नि से जलाने में तप की भावना करने से जैसे परम लोकों की प्राप्ति होती है, उसे बताया अब आगे जैसे अन्न-प्राण रूप से ब्रह्म की उपासना बतायी जायगी

उस प्रसंग को आख्यान सहित आगे बताया जायगा, आशा है आप इस विषय को दत्तचित्त होकर श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

छप्पय

(१)

स्वाहा वषट् हु स्वधा हन्त थन धेनु वाक है।
उपजीवी द्वै देव पितर इक एक नरहि है॥
प्रान-वृषभ- मन-वत्स वाक की धेनु उपासन।
वैश्वानर करि ब्रह्म पकावै अन्नजु भच्छन॥
कान मूँदि है घोष जो, है वह अनहद शब्द वर।
मृत्यु समय जब तब निकट, सुनै न फिरि यह घोष नर॥

(२)

अब उपासना सु-गति सुनो मरि पुरुष जाइ जब।
वायु छिद्र रथ चक्र सरिस करि उपरि जाइ तब॥
सूर्यलोक में पहुँचि छिद्र लम्बर सम है तहँ।
चन्द्रलोक महँ जाइ भेरि सम छिद्र होइ जहँ॥
पुनि, अशोक अरु अहिम जो, लोक तहाँ, यह जाइकें।
तन मन दुख तजि हरष अति, लोक सनातन पाइकें॥

(२)

ज्वर जब आवै करै भावना ताप होइ तब।
परम तपस्या होइ धारना करै मनहिँ मन॥
मरन काल मैं करै भावना मरि जाऊँ जब।
होवै तप उत्कृष्ट भावना बन जाऊँ अब॥
सूक्ष्म देह तैं भावना, बन्धु जरावैं मृतक तन।
परम तपस्या है रही, परम लोक पावै अयन॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पचम अध्याय में
छठा मनोमय ब्राह्मण, सातवाँ विद्युत् ब्राह्मण,
आठवाँ वाग्धेनु ब्राह्मण, नौवाँ वैश्वानर
अग्नि ब्राह्मण, दशवाँ गति ब्राह्मण
और ग्यारहवाँ तपो-
ब्राह्मण समाप्त।

अन्न-प्राणरूप ब्रह्म की उपासना

[२६२]

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात् प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतः . ...॥*

(बृ० उ० ५ अ० १२ ब्रा० १......मन्त्रांश)

छप्पय

अन्न प्राण मिलि परम भाव कूँ पावैं द्वै जब।
प्रातृद पितु सन कह्यो शुभाशुभ करूँ कहा अब॥
पिता रोकि तिहिं कह्यो पुत्र ऐसो मति भाखो।
अन्न रूप 'वी' कह्या रूप र प्रानहिँ राखो॥
अन्न ज्ञान तैं भूत ये, साधक में प्रविसें सबहिँ।
प्रान ज्ञान तैं रमन नय करैं भूत सुख पाइँ तिहिँ॥

---

* किसी का मत है अन्न ही ब्रह्म है, यह उचित नहीं, क्योंकि अन्न प्राण के बिना सड़ जाता है। किसी का मत है प्राण ही ब्रह्म है, किन्तु यह भी उचित नहीं क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। किन्तु ये दोनों ही देव एकरूपता को प्राप्त होकर परम भाव को प्राप्त होते हैं।

ससार के सभी पदार्थ अन्न हैं, जो खाया जाय और अन्त में जो शरीर को खा जाय, उसे अन्न कहते हैं। ससार के जितने भी पदार्थ हैं, वे किसी न किसी क खाद्य अवश्य हैं। छोटी मछलियों को बडी मछलियाँ खा जाती हैं। कीट पतङ्गों को छिपकलियाँ खा जाती हैं, सर्पिणी अपने बच्चों को ही खा जाती है। घुन लकडी को खा लेता है। सभी धातुओं को उनके कीड़े खा जाते हैं। अचर पदार्थों को चलने वाले खा लेते हैं। सबस बुरी वस्तु विष्ठा या वान्त है, उस भी कूकर, कौआ, सूकर खा लेते हैं। अर्थात् कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे कोई प्राणी न खाता हो, खा खाकर सभी मर जाते हैं। जो खायगा वह मरेगा, क्यों कि अन्न खाने वाले को खा जाता है। किन्तु खायगा वही जो प्राणवान् होगा। प्राणहीन खा ही नहीं सकता। वह तो स्वय दूसरे प्राणियों का खाद्य बन जाता है। तो प्राण बडा या अन्न बडा? यदि आप अन्न को बडा मानते हैं तो प्राणहीन अन्न सड जाता है। सड़ना किसे कहते हैं? सप्राण वस्तुओं में से प्राण पृथक् हो जायें तो प्राण के अतिरिक्त जो पदार्थ बचा है वह सडा है। जैसे गेहूँ जो धान्य हैं। खेत से निकलकर आये तो वे सप्राण हैं। वर्ष दो वर्ष उन्हें बन्द करके रख दो तो उन दानों में जो प्राण हैं वे सुरहुरी–कीड़ा–बनकर पृथक् हो जायँगे। फिर जो प्राणहीन अन्न है वह सडा–दुर्गन्धयुक्त–कहलायगा। तत्काल जमा हुआ दही है, वह सप्राण है। उसे दो चार दिन रखा रहने दो तो उसमे कीड़े पड़ जायँगे अर्थात् प्राण उस दही से पृथक् हो जायगा। वह दही सड़ा हुआ कहलायेगा। शरीर है, जब तक इसमें प्राण हैं तब तक किया करता रहेगा। जब इसमें से प्राण पृथक् हो जायँगे। तो शव कुछ काल तक तो अच्छा बना रहेगा, क्योंकि दश प्राणों में से एक प्राण

शव में भी रहता है। जब दो तीन दिन पश्चात् वह भी कीड़े बनकर पृथक् हो जायगा, तब वह शव सड़ा हुआ कहलायेगा। अतः अन्न प्राणों के बिना सड़ जाता है। शरीर में कोई फोड़ा हो गया। जब तक उसमें प्राणयुक्त रक्त है तब तक वह प्राणवान् है। जब उस स्थान से प्राण पृथक् हो जायँ, तो फिर उसमें प्राणवान् रक्त नहीं निकलेगा। उसमें से प्राण कीड़े बनकर पृथक् हो जायँगे। जिस घाव में कीड़े पड़ जायँ वह सड़ा हुआ घाव कहलाता है। प्राण के बिना कोई भी वस्तु—कोई भी अन्न सड़ जाता है।

इसी प्रकार अन्न के बिना प्राण सूख जाता है। शरीर है इसे अन्न खाने को न दो तो सूखकर ठठरी हो जायगा। पेड़ की डाली है, वह जड़ में से अपना अन्न ग्रहण करती है। डाली का जड़ से सम्बन्ध विच्छेद कर दो, तो जब तक उसमें पूर्व अन्न का अंश रहेगा तब तक हरी रहेगी। जब अन्नांश समाप्त हो जायगा लकड़ी सूख जायगी। गौ का गोबर है जब तक वह गौ के उदर में है तब तक हरा-गीला—बना रहेगा। जहाँ उदर से बाहर हुआ उसका अन्नाश समाप्त हुआ वह सूखकर—करीस—कडा—बन जायगा। अतः अन्न प्राण के अधीन है प्राण अन्न के अधीन है। इसलिये उपासक को अन्न और प्राण दोनों की सम्मिलित रूप में ब्रह्मभाव मानकर उपासना करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब प्राण और अन्न इन दोनों की सम्मिलित रूप से उपासना बतायी जाती है। पिछले प्रकरणों में अन्न को भी ब्रह्म मानकर उपासना बतायी गई है। जैसे तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है, कि अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो भी कोई प्राणी पृथ्वीलोक का आश्रय लिये हुए है। उत्पन्न हो जाने पर भी समस्त प्राणियों का जीवन अन्न के ही अधीन है। सभी प्राणी अन्न के ही आश्रय से जीते हैं। अन्न

समय में भी फिर अन्न में ही विलीन भी हो जाते हैं। इससे अन्न ही ब्रह्म है। अन्न की ब्रह्म भावना से उपासना करनी चाहिये।

वहीं तैत्तिरीय उपनिषद् में ही प्राण की भी ब्रह्मभाव से उपासना बतायी गयी है। वहाँ कहा गया है 'मनुष्य, पशु तथा देवतादि जितने भी प्राणधारी प्राणी हैं, वे सब के सब प्राण का ही अनुसरण करके प्राणों के अधीन होकर जीवन धारण करते हैं, क्यों कि *प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु का प्रतीक है, अतः प्राणों* को ब्रह्म मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। किन्तु यहाँ पर श्रुति का कहना है कि अकेले अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना मत करो। तो क्या प्राण को ब्रह्म मानकर उपासना करें? इसका भी निषेध करती हुई भगवती श्रुति कहती है, अकेले प्राण को भी ब्रह्म मानकर उसकी उपासना मत करो। जो लोग कहते हैं अन्न ब्रह्म है, उनका मत उचित नहीं, क्यों? इसका हेतु बताते हैं, कि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है। अच्छा तो जो प्राण को ब्रह्म कहते हैं उनका कहना तो उचित है न? इस पर कहते हैं उनका मत भी उचित नहीं, क्योंकि प्राण भी अन्न के बिना सूख जाता है। तब क्या करें? कैसे उपासना करें? इसका उत्तर देते हैं—अन्नदेव और प्राणदेव ये दोनों ही देव जब एकरूपता को प्राप्त होते हैं, दोनों ही जब मिले-जुले रहते हैं तभी ये परमभाव को प्राप्त होते हैं। अतः इन दोनों की *एकरूपता में ही ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। यही* सिद्धान्त हुआ।

अब इस पर एक दृष्टान्त देते हैं। श्रुति कहती है (अन्नं बहुकुर्वीत) बहुत सा अन्न इकट्ठा करना चाहिये जिससे अतिथियों का सत्कार हो सके। इस पर प्रातृद नाम के ऋषि थे, उन्होंने अपने पिता से कहा था—"जो यह जानता है कि अन्न

और प्राण दोनों देव एकरूपता को प्राप्त होकर परमभाव को प्राप्त होते हैं।" ऐसे जानने वाले विद्वान् का मैं क्या साधु कर सकता हूँ ? अर्थात् ऐसे विद्वान् का अन्न जल से मैं क्यों सत्कार करूँ ? और ऐसे जानने वाले का मैं कुछ अशोभन असाधु कार्य भी क्या कर सकता हूँ। वह तो स्वय ही कृतकृत्य है। क्योंकि अन्न और प्राण दोनों देवों की एकरूपता जानने वाला पुरुष शुभ कर्म से प्रसन्न न होगा, अशुभ करने से असन्तुष्ट न होगा। इसलिये ऐसे ज्ञानी के प्रति हमारा कुछ भी कर्तव्य नहीं।"

अपने प्रातृद पुत्र की ऐसी बात सुनकर पिता ने हाथ हिलाकर उस ऐसा कहने से मना करते हुए कहा—"हे पुत्र प्रातृद ! तुम ऐसा मत कहो।"

पुत्र ने पूछा—"तब पिताजी ! कैसा कहें ?"

पिता ने कहा—"'विरम्' ऐसा कहो।"

पुत्र ने पूछा—"'विरम्' का अर्थ क्या हुआ ?"

पिता ने कहा—"अन्न और प्राण इन दोनों की एकरूपता को प्राप्त होकर कौन परमता को प्राप्त कर सकता है ? बतावें ?– देखो सुनो–'वि' का अर्थ है अन्न।"

पुत्र ने पूछा—"'वि' का अर्थ अन्न कैसे है ?"

पिता ने कहा—"वि का अर्थ है विष्टानि अर्थात् आश्रित होना। अर्थात् ये समस्त प्राणी अन्न में ही आश्रित हैं। अन्न के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। अतः अन्न को 'वि' इस सकेत से कहा।"

पुत्र ने पूछा—'रम्' का क्या अर्थ है ?"

पिता ने कहा—"प्राण ही 'रम्' है।"

पुत्र ने पूछा—"प्राण 'रम्' कैसे है ?"

पिता ने कहा—"बल के आश्रय से ही समस्त प्राणी रमण

करते हैं। वल तो प्राण के ही आश्रय से रहता है। जहाँ प्राण होता है वहीं वल रहता है। (प्राणे हि यस्मात् बलाश्रये सति सर्वाणि भूतानि रमन्तेऽतो'रम्' इति प्राणः) अतः 'रम' से प्राण का ही बोध होता है। इस भाँति अन्न तो सभी प्राणियों के जीवन का आश्रय है और प्राण रमण करने वाला है। तो अन्न तो आयतन-आश्रय-घर है और प्राण वलदाता है। जो दोनों की एकरूपता को जानकर उपासना करता है, वही आयतनवान् आश्रययुक्त और बलवान होता है। जब प्राणी पूर्णरूप से आश्रययुक्त और बली अपने को बना लेता है, तभी वह कृतकृत्य होता है तभी वह अपने को कृतार्थ मानता है। जो साधक अन्न को समस्त प्राणियों का आश्रयभूत जानता है वही आयतनवान् और बलवान् होता है, ऐसे साधक में चराचर भूत प्रवेश करते हैं और उसी में समस्त भूत रमण भी करते हैं। अतः केवल प्राण और अन्न की एकरूपता ही जानना पर्याप्त नहीं। उनके आश्रय भूत आयतन को और बल को भी जानकर दोनों की उपासना करनी चाहिये। तभी साधक कृतकृत्य हो सकेगा।"

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो ! यह मैंने अन्न प्राण रूप से ब्रह्म की उपासना कही। अब आप उक्थ दृष्टि से प्राणोपासना के सम्बन्ध में सुनिये।"

शौनकजी ने पूछा—"उक्थ क्या ?"

सूतजी ने कहा—"वैसे पीछे तो उक्थ शब्द सामवेद की कुछ ऋचाओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वेद में उक्थ स्तोत्र के अर्थ में भी आता है। किन्तु यहाँ पर प्रतीत होता है उक्थ शब्द उठाने वाले के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उक्थ नाम का एक यज्ञ कार्य में प्रयुक्त होने वाला शस्त्र है। महाव्रत नामक क्रतु में कर्मकाण्डी विद्वान् उसका प्रयोग करते हैं। यज्ञीय शस्त्रों में वह

उक्थ नाम का शस्त्र प्रधान माना जाता है। जैसे उक्थ शस्त्र महाक्रतु की समस्त क्रियाओं को उठाता है। वैसे ही प्राण समस्त प्राणियों को उठाने वाला है। प्राणहीन कोई भी व्यक्ति उठ नहीं सकता है। वृक्ष में जब तक प्राण रहेंगे तभी तक वह उठेगा, ऊपर को बढ़ेगा। उसे काटकर धराशायी कर दो। प्राणहीन होने से सूख जायगा, फिर ऊपर को बढ़ेगा नहीं। मृतक शरीर है, उसमें प्राण नहीं इसलिये पडा ही रहेगा। उसमें फिर से प्राणों का संचार हो जाय, तो उठकर खडा हो जायगा। कोई व्यक्ति सो रहा है, किन्तु उसके प्राण चलते हुए भी इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त पड़े हैं उनके जाग्रत होते ही मनुष्य उठकर खडा हो जायगा। इसलिये जो उठावे वही उक्थ है (उत्थापयति यत् तत्=उक्थम्) जैसे उक्थ शस्त्र सब शस्त्रों में प्रधान है वैसे ही उक्थ नाम वाला प्राण समस्त इन्द्रियों में प्रधान है। अतः जो गृहस्थी साधक प्राण का उक्थ भावना से उपासना करता है, उसका प्रत्यक्ष फल तो यह कि उसके जो पुत्र होगा, वह कुल को ऊँचा उठाने वाला प्राणवेत्ता वीर पुरुष होगा। और परलोक में परोक्ष फल यह होगा कि उसे प्राण का सायुज्य और सालोक्य प्राप्त हो जायगा। वह प्राण स्वरूप हो जाता है। प्राणलोक में प्राण के साथ निवास करता है। यह उक्थ भाव से की हुई उपासना और उसका फल बताया। अब प्राण को यजुः मानकर जैसे उपासना की जाती है उसे बताते हैं।

शौनकजी ने पूछा—"यजुः क्या ?"

सूतजी ने कहा—"यजुः नाम का चारों वेदों में से एक वेद है। उस वेद का नाम यजुः क्यों है, वह समस्त कर्मकाड का ऋचाओं को जोड़ता है योग करता है। इसी प्रकार प्राण भी यजु है, क्योंकि शरीर में प्राण होने पर ही परस्पर में सब प्राणियों

का योग मिलन सम्बन्ध होता है। शरीर में जब तक प्राण हैं तभी तक व्यक्ति माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र पुत्रादि का नाता मानते हैं। शरीर में से जहाँ प्राण पृथक् हुए सभी सम्बन्ध विच्छेद हो जाते हैं। अतः प्राण ही सबका सबके साथ योग करता है। (युनक्तीति यजुः=प्राणः) इस प्रकार प्राण जो योग करने वाला यजुः मानकर उसकी ब्रह्मभाव से उपासना करता है इसका प्रत्यक्ष फल तो यह होता है कि उसके सभी सम्बन्धी यह इच्छा करते हैं यह पुरुष हम सबमें सर्वश्रेष्ठ हो वैसे साधारणतया लोग किसी दूसरे की उन्नति चाहते नहीं। किसी को अपने से श्रेष्ठ न मानकर उसे गिराने का ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु इस यजुः रूप से प्राणों के उपासक को लोग प्रयत्न करके उद्यम करके अपने से श्रेष्ठ बनाना चाहते हैं। और परोक्ष फल परलोक में यह होता है कि उसे यजु रूप प्राण का सायुज्य और सालोक प्राप्त होता है। यह यजुः रूप से प्राण की उपासना कही गयी। अब साम दृष्टि से प्राणोपासना को बताते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"साम क्या ?"

सूतजी ने कहा—"चारों वेदों में से एक सामवेद भी है। सामवेद में समस्त गाने की ऋचायें सुसंगत हैं। श्रेष्ठता के साथ गायी जाती हैं। इसी प्रकार प्राण में सब भूत संगत होते हैं। इसलिये साम्य प्राप्ति के कारण इस प्राण की साम संज्ञा है। प्राण ही प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ है। इस प्रकार मानकर जो प्राण की साम भाव से उपासना करते हैं उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि इस सामरूप प्राण के पंडित की श्रेष्ठता सम्पादन करने के निमित्त सभी सम्बन्धी समर्थ होते हैं। अर्थात् सभी उसे अपने से श्रेष्ठ बनाने के निमित्त प्रयत्नशील रहते हैं और परलोक में परोक्ष फल यह होता है, कि उसे साम का सायुज्य और

सालोक्य प्राप्त होता है। यह साम दृष्टि से प्राणोपासना कही गयी, अब क्षत्र दृष्टि से प्राणोपासना श्रवण कीजिये।"

शौनकजी ने पूछा—"क्षत्र क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो भय से–दुःख से त्राण करे–रक्षा करे वही क्षत्र है (क्षतात् त्रायते इति क्षत्रम्) जैसे बलवान् क्षत्रिय प्रजा की दुःखों से रक्षा करता है उसी प्रकार प्राण इस देह की शस्त्रादिजनित क्षत से रक्षा करता है। शरीर में घाव हो जाय तो प्राण ही उस घाव को भरकर प्राणों की रक्षा करता है। अतः प्राण ही क्षत्र है। (क्षतत्राणात्=त्रायते=इति क्षत्रम्=प्राणः) जो प्राण की क्षत्र इस भावना से उपासना करता है उसका प्रत्यक्ष फल तो यह है कि वह क्षत्रत्व विसिष्टता को प्राप्त करता है और परलोक में परोक्ष फल यह है कि उसे क्षत्रप्राण का सायुज्य सालोक्य प्राप्त होता है। यह मैंने प्राणों की विविध रूप से उपासना बतायी। अब आगे गायत्री की उपासना बतायी जायगी, उसे आप सब समाधान चित्त से श्रवण करने की कृपा करें।"

छप्पय

उत्थापित जो करै प्रान हीं उक्थ कहावै।
सुत सुयोग्य सायुज्य अन्त सालोक्यहिं पावै॥
योग यजुहिँ करि इष्ट उपासै श्रेष्ठ सहायक।
सो पावै सायुज्य अन्त सालोक्य उपासक॥
प्राणोपासन सामतैं, होयँ सुसगत भूत तब।
क्षत्र उपासक श्रेष्ठता, अरु पावै फल पूर्व सब॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में बारहवाँ अन्नप्राण ब्राह्मण और तेरहवाँ उक्थ ब्राह्मण समाप्त।

गायत्री रूप में ब्रह्मोपासना

[२६३]

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरᳶ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत् स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पद वेद ॥*

(बृ० उ० ५ अ० १४ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

चौबिस अक्षर युक्त तीन पद गायत्री सो ।
आठ आठ के तीनि पाद तिनिकूँ जाने जो ॥
भूमि, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पाद पहिले के अक्षर ।
जानि मरम जो भजै त्रिलोकी जीते द्विजवर ॥
ऋच यजूंषि सामानि ये, द्वितिय पाद अक्षर कहे ।
जानि त्रयी विद्या लहै, फल विजयी बनिके रहे ॥

गायत्री को वेदमाता कहा है। यह सभी वेदों की जननी है। ब्रह्माजी ने तीनों वेदों में से सार-सार रूप में एक एक पाद निकाल कर इस त्रिपदी गायत्री को बनाया। द्विजातियों के लिये

---

* भू-मि, अन्त-रि-क्ष, द्यौ (द-य) ये आठ अक्षर गायत्री का प्रथम पाद हैं। ये भूमि अन्तरिक्ष और द्यौ इन्हें ही प्रथम पाद समझना चाहिये। जो इस प्रथम पाद के रहस्य को जानता है, वह इन तीनों लोकों में जो भी कुछ है उस सभी को जीत लेता है।

इससे बढ़कर कोई दूसरा मंत्र नहीं। इसीलिये इसे द्विज बनाने वाली दूसरी माता कहा है। जिनके दो जन्म हों, उन्हें द्विज कहते हैं। पहिला जन्म तो माता के उदर से बाहर होने को माना गया है, दूसरा जन्म गायत्री मंत्र की दीक्षा का है। गायत्री द्विजों का माता के समान रक्षा करती है। जो इसका गायन करता है—जप करता है—उसकी यह माता के समान रक्षा करती है, सभी प्रकार के दुःखों से त्राण करती है। इसीलिये इसका नाम गायत्री है।* (गायन्त त्रायते इति=गायत्री) गायत्री सभी ऋद्धि सिद्धियों को तथा मोक्ष तक को देने वाली है। गायत्री समस्त मंत्रों की सम्राज्ञी है।

वेदों में मुख्यतया गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती ये सात छन्द प्रधान मानी गयी हैं। इनके अतिरिक्त अति जगती, शर्करी, अष्टात्यष्टी, धृति अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संस्कृति, अतिकृति, उत्कृति आदि और भी हैं। किन्तु सात छन्द प्रधान हैं। उनमें भी गायत्री सबसे श्रेष्ठ छन्द है। भगवान् ने इसे अपनी विभूति बताया है। वैसे तो तीन पाद वाली चौबीस अक्षरों वाली वेदों में गायत्री नाम वाली छन्दें बहुत हैं। किन्तु यह सावित्री रूपा गायत्री यह सभी वेदों की जननी है। गायत्री का उपासक सम्पूर्ण ब्रह्माड पर विजय प्राप्त कर सकता है। यह गायत्री समस्त पापों को नाश करने में समर्थ है। द्विजातियों को जीवन पर्यन्त गायत्री का जप करते रहना चाहिये। गायत्री प्राण स्वरूपा है। ब्राह्मण का गायत्री ही परम धन है। गायत्री द्वारा ही उसकी सृष्टि हुई है। उसे दूसरा जन्म देने वाली द्विज बनाने वाली गायत्री

---

* गायन्त त्रायते यस्मात् गायत्रीत्व तत स्मृता।

ही है। ब्राह्मण निष्किंचन क्यों होते हैं ? वे द्रव्य का संग्रह क्यों नहीं करते ? इसलिये कि उनके पास गायत्री परम धन है। ब्राह्मण भिक्षा से निर्वाह क्यों करता है ? ब्राह्मण को सभी नमस्कार क्यों करते हैं ? ब्राह्मण निष्पाप, निर्दोष, निर्भय किसी से भी न डरने वाला क्यों होता है ? इसलिये कि वह गायत्री रूप धन का धनी है। ब्रह्म प्राप्ति का गायत्री मुख है। इस प्रकार इस गायत्री को ब्रह्मभाव से उपासना करनी चाहिये। इसी बात को बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! पुरुषार्थ चतुष्टय को देने वाली भगवती गायत्री की अब ब्रह्मभाव से उपासना बतायी जाती है। आरम्भ में प्रणव लगाकर तीन व्याहृतियों के सहित गायत्री के जप का विधान है। गायत्री त्रिपदी है, एक उसका शिर भी है, उसे लेकर कहीं कहीं उसे चतुष्पदी भी कहा है, किन्तु सिद्धान्ततः वह त्रिपदी ही है। उसके आठ-आठ अक्षरों के तीन पाद हैं। पहिले पाद में (१) त् अलन्त सहित तकार, (२) सकार, (३) विकार, (४) अर्ध रेफ सहित तुकार, (५) वकार, (६) रेकार, (७) णिकार, और (८) यम्कार। इन प्रथम पाद के आठ अक्षरों की समता भूमि, अंतरिक्ष और द्यौ इन त्रैलोक्य सम्बन्धी आठ अक्षरों के साथ की है। अर्थात् भूमि में (१) भूकार, (२) मिकार, अंतरिक्ष में, (३) अकार, (४) तकार, (५) रिकार, (६) क्षकार, और द्यौ में (७) दकार और (८) यकार, इस प्रकार आठ अक्षर हैं। भाव यह हुआ कि गायत्री मंत्र पहिले आठ अक्षर वाले पाद में ही पृथ्वी, अंतरिक्ष और स्वर्ग ये तीनों लोक आ गये। जो साधक इस भाव को भली-भाँति जानकर उपासना करता है, वह पहिले पाद की उपासना से ही इस त्रिलोकी में जो भी कुछ है, उसे जीत लेता है। अर्थात् वह पहिले पाद के ज्ञान से

त्रिलोकेश्वर बन जाता है। इस प्रकार गायत्री मंत्र के तीन पादों में से पहिले पाद की उपासना और उसका फल कहा। अब उसके दूसरे पाद की उपासना की महिमा और उसका फल श्रवण कीजिये।

गायत्री मंत्र के दूसरे पाद में (१) अर्धरेफ युक्त भकार (२) गोकार, (३) देकार, (४) वकार, (५) अर्ध सकार सहित यकार, (६) धाकार, (७) मकार और (८) हिकार इन आठ अक्षरों की समता ऋचः, यजूंसि और सामनि इन आठ अक्षरों के साथ की है। ऋचः में (१) ऋकार, (२) विसर्ग सहित चकार, यजूंसि में (३) यकार, (४) विन्दु सहित जूकार, (५) सिकार, तथा सामानि में (६) साकार, (७) माकार, और (८) निकार इस प्रकार आठ अक्षर हैं। भाव यह हुआ कि गायत्री मंत्र के द्वितीय पाद में जो आठ अक्षर हैं वे ऋक् यजु और साम इन त्रयी विद्या के समान हैं। जो साधक गायत्री मंत्र के दूसरे पाद के अक्षरों के भाव को सम्यक् प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह जितनी त्रयी विद्या है उस त्रयी विद्या के फल को जीत लेता है अर्थात् दूसरे पाद की उपासना से उसे तीनों वेदों के पढ़ने का जो फल है, वह फल प्राप्त हो जाता है। यह गायत्री मंत्र के दूसरे पाद के आठ अक्षरों की महिमा और उनकी उपासना का फल कहा गया। अब गायत्री के तीसरे पाद के आठ अक्षरों की महिमा और उनकी उपासना के फल को सुनिये।

गायत्री मंत्र के तीसरे पाद में (१) धिकार, (२) योकार, (३) योकार, (४) विसर्ग सहित नकार, (५) प्रकार, (६) चोकार, (७) दकार, और (८) अर्ध तकार सहित यकार ये आठ शब्द हैं। इनकी समता प्राण अपान और व्यान नाम के जो मुख्य प्राण हैं उनके आठ अक्षरों के साथ की गयी है। प्राण के

(१) शकार, (२) वकार, अपान के (३) अकार, (४) पाकार, और (५) नकार तथा व्यान के (६) विकार, (७) याकार, और (८) नकार इन आठ अक्षरों के साथ की है। जो साधक गायत्री मंत्र के तीसरे पाद के इस भाव को भली-भाँति जानकर उसकी प्राण ब्रह्मभाव से उपासना करता है, तो उस उपासना के फल-स्वरूप जगत् में जितने भी प्राणि वर्ग हैं, उन सब पर वह विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह प्राणेश्वर परब्रह्म के सदृश हो जाता है।

गायत्री मंत्र के तीन पाद तो प्रसिद्ध ही हैं। अब इसके एक तुरीय पाद-चतुर्थ पाद की-भी महिमा बताते हैं। जप के समय तो ओंकार व्याहृति सहित त्रिपदी गायत्री का ही जप किया जाता है, किन्तु जप के अंत में तुरीय पाद का भी व्यवहार होता है। उस तुरीय अर्थात् चतुर्थ पाद में भी आठ अक्षर हैं। पाद के भाव का अर्थ भगवती श्रुति स्वयं ही बताती है। तुरीय शब्द का अर्थ है जो तपता है वही उसका तुरीय है। वह तुरीय पाद कौन-सा है ? 'दर्शतं परोरजाः' यही तुरीय या चतुर्थ पद है। अब इसमें जो पहिला दर्शत पदम् है इसका अर्थ बताया जाता है, जो दिखायी दे वही दर्शतम् है। दीखता कौन है ? आदित्य मंडल में रहने वाला पुरुष। वह आदित्य मंडल में रहने वाला पुरुष कैसा है। वह परोरजाः है अर्थात् यह सभी प्रकार के रज से-सभी प्राकृत लोकों से-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। इस प्रकार 'दर्शतं परोरजाः' यह गायत्री के तुरीय-चतुर्थ-पद की महिमा है। जो गायत्री मंत्र के इस चतुर्थ पद के अर्थ को भली-भाँति जानकर उसकी उपासना करता है। वह जैसे यह तुरीय पद सम्पत्ति और कीर्ति द्वारा प्रकाशित हो,

रहा है, उसका साधक भी उसी भाँति शोभा-सम्पत्ति तथा यश-कीर्ति के द्वारा प्रकाशित होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यह तुरीय पद सहित त्रिपदा प्राण ब्रह्म गायत्री की उपासना कही क्योंकि गायत्री का परम प्रतिष्ठा प्राण में ही है। गायत्री का परम प्रतिष्ठा प्राण कैसे है। इसे बताते हैं—

जिस चौबीस अक्षर वाली त्रिपदा गायत्री को पीछे बताया है वह गायत्री यह जो 'दर्शत परोरजाः' चौथा पद है उसी में प्रतिष्ठित है। इस तुरीय पद का अर्थ यही हुआ कि जितने भी ये राजस् लोक हैं, उन सबसे ऊपर उत्कृष्ट रूप विद्यमान जो सूर्य मंडलस्थ पुरुष प्रतिष्ठित है वह निश्चय करके उस सत्य स्वरूप परब्रह्म परमात्मा में प्रतिष्ठित है। वह सत्य है क्या ? इन्द्रियों में चक्षु को ही सत्य बताया गया है, चक्षु ही सत्य है। चक्षु सत्य क्यों है ? इस विषय को दृष्टान्त देकर समझाते हैं। एक व्यक्ति का घोड़ा भाग गया था। वह उसे खोजता खोजता एक स्थान पर पहुँचा। उसने पूछा—"एक सफेद बड़ा सा घोड़ा इधर से आया था क्या ? एक ने कहा—"मैंने किसी से ऐसा सुना है कि सफेद घोड़ा उत्तर की ओर भागा जा रहा था।" दूसरे ने कहा—"मैंने अभी अपने आँखों से प्रत्यक्ष देखा है। सफेद घोड़ा पूर्व की ओर भागा चला जा रहा था।" एक ने तो कहा—'मैंने सुना है' दूसरे ने कहा—'मैंने देखा है' तो इन दोनों में से जिसने 'देखा है' ऐसा कहा है—उसी की बात सत्य मानी जायगी। क्योंकि चक्षु से प्रत्यक्ष देखी बात ही सत्य है, कानों से सुनी उतनी सत्य नहीं है। इससे सिद्ध हुआ चक्षु ही सत्य है। 'सुना है' 'देखा है' इस दोनों के विवाद में अधिक विश्वास जिसने 'देखा है' ऐसा कहा है उसी का किया जायगा।

यदि आँखें निर्बल हों, उनमें बल न हो तो उन निर्बल आँखों की बात भी विश्वसनीय न समझी जायगी। हाँ,आखें स्वच्छ निरोग बलशालिनी होंगी, तो उसकी बात मानी जायगी इससे सिद्ध हुआ कि जो गायत्री का आश्रय भूत सत्य है वह बल के आश्रय है, वह बल में प्रतिष्ठित है। वह बल क्या है ? प्राण ही का नाम बल है, जिसका प्राण जितना ही सशक्त होगा वह उतना हा बलशाली माना जायगा। वह जो चक्षु मे स्थित सत्य प्राण में-बल में-प्रतिष्ठित है। इसीलिये लोक मे भी कहावत प्रसिद्ध है कि सत्य की अपेक्षा बल ओजाय-ओजस्वी-है। इसका भाव यही हुआ कि यह गायत्री अध्यात्म प्राण मे प्रतिष्ठित है। अर्थात् गायत्री की उपासना प्राणोपासना ही है। यह गायत्री की परम प्रतिष्ठा प्राण है इस विषय को बताया गया। अब 'गायत्री' शब्द का अर्थ बताते हैं। उसके शब्दों से उसका निर्वचन करते हैं।

गयों का जो त्राण करे वही गायत्री है। जिसने गयों की-वाणी आदि इन्द्रियों की प्राणों की -रक्षा की है, पालना की है वही गायत्री है। गय शब्द का अर्थ है जो शब्द करे। वाणी आदि इन्द्रियाँ प्राणों के द्वारा शब्द करती हैं। इसलिये वाणी आदि इन्द्रियाँ ही प्राण स्वरूपा हैं। इस गायत्री ने वागादि प्राणों की रक्षा की है इसलिये इसका गायत्री नाम सार्थक है। इस प्रकार गायत्री का निर्वचन करके पुनः इसकी प्रशंसा में एक दृष्टान्त देते हैं।

शतपथ ब्राह्मण का एक वचन है—ब्राह्मण का बालक जब आठ वर्ष का हो जाय तो उसका उपनयन संस्कार कराके उसे अध्ययन कराये। उसका वेदारम्भ संस्कार साथ ही-साथ करे।

वटु–ब्रह्मचारी-आचार्य के समीप अध्ययन के निमित्त आता है। सर्वप्रथम आचार्य उसका कुल गोत्र पूछकर उपनयन करते हैं। अर्थात् उसे पहिले सावित्रा–गायत्री–मंत्र का उपदेश करते हैं। चौबीस अक्षरों वाली तीन पाद वाली सावित्री का जिसके देवता सविता हैं। उसका पदशः उपदेश करते हैं, कि देव ब्रह्मचारी। इस सावित्री के ये तीन पाद हैं। फिर पहिले आचार्य ओंकार व्याहृति सहित एक पाद का उपदेश करता है। दूसरी बार फिर प्रणव व्याहृति सहित दो पादों का उपदेश करता है। तीसरी बार प्रणव व्याहृति सहित सम्पूर्ण तीनों पाद वाली प्रणवान्त गायत्री का नपदेश करता है। इस प्रकार पदशः आधी आधी ऋचा करके तीन वार में सम्पूर्ण रूप से जिस गायत्री मन्त्र का उपदेश करता है। वह सावित्री यही गायत्री मन्त्र है।

आचार्य के समीप जो भी विद्यार्थी अध्ययन के निमित्त आते हैं उन सबको वे सर्वप्रथम इसी गायत्री का उपदेश करते हैं। सबको प्रथम गायत्री का उपदेश वे इसलिये करते हैं कि जिन-जिन ब्रह्मचारी वटुओं को वे गायत्री का उपदेश करते हैं उन सबके प्राणों की यह गायत्री माता रक्षा करती है। इसलिये यह गायत्री मैया जननी की भाँति प्राणों की रक्षिका है। इस प्रकार गायत्री का महत्त्व बताकर एक महत्त्वपूर्ण बात इस सम्बन्ध की और बताते हैं। सावित्री मंत्र का ही उपदेश आचार्य करते हैं, किन्तु सावित्री दो प्रकार की है, एक तो अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री दूसरी गायत्री छन्द वाली गायत्री। इन दोनों में भेद क्या है? और उपदेश किस सावित्री का करना चाहिये इसे बताते हैं। इससे पहिले मतभेद प्रदर्शित करते हैं।

जिस मन्त्र का सविता देवता हो उसे सावित्री कहते हैं। अनुष्टुप् छन्द चार पादों वाला होता है और गायत्री छन्द में तीन ही पाद होते हैं। चार पाद वाली अनुष्टुप् छन्द के एक मन्त्र का भी सविता ही देवता है और तीन पाद वाली गायत्री छन्द का भी सविता देवता है। तो अब विवाद इस बात का है कि दोनों सावित्रियों में से किसका वटु को उपदेश करे ?

वेद की अनेकों शाखायें हैं। कुछ शाखा वालों का मत है कि अनुष्टुप् छन्द वाली चार पदों से युक्त सावित्री मन्त्र का ही उपदेश देना चाहिये। अनुष्टुप् गायत्री का ही उपदेश क्यों देना चाहिये ? इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि वाणी–सरस्वती–अनुष्टुप ही है। जिससे सतत स्तुति की जाय उसे अनुष्टुप कहते हैं (अनु=सतत स्तु+यतेऽनया इति=अनुष्टुप्) स्तुति वाणी-सरस्वती द्वारा ही की जाती है, इसलिये अनुष्टुप् वाली सावित्री का ही वटु को उपदेश करे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! चार पाद वाली अनुष्टुप् सावित्री मन्त्र कौन है और उसका भाव क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन ! यह चार पद वाली अनुष्टुप् सावित्री ऋग्वेद के पाँचवें मंडल के ८२ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र है। उसका भी भाव प्रायः यही है— हम उस सविता देवता का वरण करते हैं जो सब को भोजन प्रदान करते हैं। सबके भोजन हैं) ऐश्वर्यादि समस्त जग के सर्वश्रेष्ठ स्वामी हैं उनका ध्यान करते हैं।*

उन शाखा वालों का आग्रह अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री के ही उपदेश का है। श्रीमद्भागवत में भी राजर्षि भरत के प्रसंग

* तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्व धातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥

में उसी गायत्री के भाव को लेकर एक पौराणिक गायत्री मंत्र बताया है। उसका भी भाव यही है कि—"भगवान् सूर्य का कर्म फलदायक जो तेज है वह प्रकृति से परे है। उसी ने इस जगत् की उत्पत्ति अपने संकल्प द्वारा की है। तदनन्तर अन्तर्यामी रूप से वही तेज इस जगत् में प्रविष्ट होकर अपनी चित् शक्ति द्वारा विषयलोलुप जीवों की रक्षा करता है। उसी बुद्धि प्रवर्तक तेज की हम शरण लेते हैं।* यह चार पैर वाली अनुष्टुप् सविता है। यहाँ भगवती श्रुति इसका निषेध करती है। उसका आदेश है आचार्य को इस अनुष्टुप् सावित्री का उपदेश नहीं करना चाहिये। वह तो अपने ब्राह्मण वटु को गायत्री छन्द वाली त्रिपदी सावित्री का ही उपदेश करे। अब इस गायत्री का उपदेश लेने वाले को क्या फल होता है, उसे बताते हैं—जो इस प्रकार गायत्री का जिसे उपदेश करता है, और आचार्य उपदिष्ट गायत्री को जान लेता है वह दान में चाहे जितना धन ले ले। चाहे जितना प्रतिग्रह कर ले, तो वह गायत्री के एक पाद के सदृश नहीं हो सकता। अर्थात् आवश्यकता से अधिक दान निषेध है, किन्तु गायत्री मंत्र का जापक किसी कारणवश आवश्यकता से अधिक भी दान दक्षिणा ग्रहण कर ले तो उसे दोष नहीं लगता। क्योंकि उसके लिये वह विशेष अधिक नहीं माना गया है। यह सम्पूर्ण गायत्री का महत्त्व बताया गया है। अब गायत्री के प्रत्येक पद का महत्त्व बताते हैं—

---

* परोरजः सवितुर्जातवेदो—
देवस्य भर्गो मनसेद जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे
हंस गृध्राणं नृषद्रिङ्गिरामिमः॥
(श्रीमा० ५-७-१४)

प्रतिग्रह लेना एक प्रकार का अपराध है, यदि किसी को प्रतिग्रह लेना ही हो, तो उसे गायत्री मन्त्र का जप कर लेना चाहिये, इससे प्रतिग्रह का उसे दोष नहीं लगता। गायत्री देवी में प्रतिग्रह जनित अपराध के शमन की कितनी भारी शक्ति है, अब भागवती श्रुति इसी बात को बताती है। सम्पूर्ण गायत्री मंत्र के जप की बात तो छोड़ दीजिये। इसके एक-एक पद के जप का ही इतना महान्माहात्म्य है, कि बड़े से-बड़ा प्रतिग्रह का शमन हो जाता है।

मानलो, उसने पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग की जितनी भी धन, धान्य, पशु, सुवर्णादि वस्तुएँ हैं उन सबका दान ले लिया और दान लेने के अनन्तर केवल गायत्री के प्रथम पाद का ही ज्ञान प्राप्त कर लिया, तो उस लेने वाले का प्रतिग्रह इस गायत्री के प्रथम पाद को व्याप्त करता है। अर्थात् तीनों लोकों के दान लेने का अपराध नष्ट होकर भी वह तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार पहिले पाद ज्ञान का लोकत्रय भोक्तृत्व कहकर अब दूसरे पाद प्रतिग्रह दोष से निर्मुक्त होकर उसके भोक्तृत्व फल को बताते हैं।

गायत्री मंत्र का जो द्वितीय पाद है, उसके विज्ञाता को वह चाहें ऋक्, यजु, और साम रूप विद्या है उसके बराबर भी जो प्रतिग्रह करता है, तो द्वितीय पाद के विज्ञान के कारण उसका वह अपराध नष्ट होकर द्वितीय पाद के फल को व्याप्त करता है, अर्थात् वह त्रयी विद्या का जितना फल है उसे प्राप्त कर ही लेता है। अब तृतीय पाद विज्ञान का फल बताते हैं।

गायत्री मंत्र का जो तीसरा पाद है, उसके विज्ञान को जो भली भाँति जान लेता है, वह चाहे संसार भर में जितने भी प्राणी हैं, उन सबका भले ही प्रतिग्रह कर ले, किन्तु तृतीय पाद

के विज्ञान के कारण प्राणीमात्र प्रतिग्रह जनित दोष से नि
होकर वह समस्त प्राणीमात्र पर विजय प्राप्त कर ही लेता है

अब रही तुरीय-चतुर्थ पद "दर्शत परोरजाः" की बात,
तो तपता ही है, अर्थात् उसी के तप से तो संसार में बल
होता है, उतना कोई प्रतिग्रह कर ही नहीं सकता। अतः
किसी के द्वारा भी प्राप्य नहीं है कोई चाहे कि हम इतना प्रति
करके चतुर्थ पद के फल को प्राप्त कर लें तो असंभव है।

इस प्रकार गायत्री मंत्र के चारों पदों के दाता और भो
के माहात्म्य को बताया। जैसे किसी ने तीनों लोकों की
सम्पत्ति है, उसे किसी प्रथम पादवेत्ता को दान कर दी तो द
तो तीनों लोकों की सम्पत्ति दान के फलस्वरूप तीनों लोकों
विजय प्राप्त कर ही लेगा किन्तु प्रतिगृहीता को भी प्रथम पाद
विज्ञान के कारण उसके फलप्राप्ति पर आँच नहीं आवेगी। उ
तो विज्ञान के कारण वह फल प्राप्त हो ही जायगा। इसी प्रका
द्वितीय तथा तृतीय पाद के दाताओं प्रतिगृहीताओं के सम्बन्ध
भी समझनी चाहिये। अब रही चतुर्थ-तुरीय-पाद के दाता प्रति
गृहीता के सम्बन्ध में। सो चतुर्थ पाद के विज्ञान का जो फल
है, उसके फल के बराबर तो संसार में कोई दान कर ही नहीं
सकता। हाँ, चतुर्थ पाद के विज्ञाता को तो प्राण-बलस्वरूप-
सत्य की प्राप्ति हो ही जायगी।

सूतजी कहते हैं— 'मुनियो! वास्तव में तो यह गायत्री की
महिमा की प्रशंसा में अत्युक्ति है। आप ही सोचें, संसार में
कोई भी व्यक्ति तीनों लोकों की सम्पत्ति के बराबर दान कहाँ से
कर सकता है? फिर दूसरे तीसरे की तो बात ही क्या है। कहने
का अभिप्राय इतना ही है कि गायत्री के चारों पदों के विज्ञाता
को अनन्त फल की प्राप्ति होती है, ऐसी गायत्री की उपासना

अवश्य करनी चाहिये। उसका जप अवश्य करना चाहिये। इसी प्रकार गायत्री की उपासना का महा-माहात्म्य बताकर अब गायत्री के उपस्थान और उस उपस्थान के फल के सम्बन्ध में बताते हैं।

गायत्री जप के पूर्व जो सन्ध्यावन्दन किया जाता है, उसमे गायत्री देवी का मन्त्रों द्वारा उपस्थान भी करते हैं। उपस्थान का अर्थ है समीप जाकर स्थित होना। अर्थात् समीप जाकर श्रद्धा से मन्त्रों द्वारा नमस्कार प्रणामादि करना। (उप=समीपे-उपेत्य-स्थान नमस्करणम्-अनेन मन्त्रेण-इति उपस्थानम्) खड़े होकर प्रातःकाल मे दोनों हाथों को निवेदन के रूप म आगे खड़ा करके मध्याह्न मे दोनों हाथों को ऊपर उठाकर और सायकाल मे दोनों हाथों को जोडकर उपस्थान करना चाहिये। उपस्थान के और भी मन्त्र हैं, किन्तु भगवती श्रुति जिसम गायत्री माता की विशेष स्तुति है, उसी मन्त्र को बताता है। उस मन्त्र का भावार्थ यह है–

हे गायत्री मैया ! तू पृथ्वी अन्तरिक्ष और स्वर्ग रूप से एक पैर वाली है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रूप से दो पैर वाली है। प्राण, अपान और व्यान रूप से तीन पैर वाली है। तुरीय दर्शत परोरजा' रूप से चार पैरों वाली भी है तथा इन सभी से परे निरुपाधिक रूप से तू बिना पैर वाली भी है, क्योंकि तू भली भाँति जानी नहीं जाती। समस्त राजस लोकों से ऊपर विराजमान दर्शनीय तेरा तुरीय-चतुर्थ-पद है उसके लिये नमस्कार है। यह पाप रूप भयकर शत्रु इस विघ्नाचरण रूप कार्य को नहीं प्राप्त हो यह मेरी प्रार्थना है।"

यह तो उपस्थान मन्त्र का अर्थ हुआ। अब इस उपस्थान के फल को बताते हुए इसी मन्त्र म आगे कहते हैं—ऊपर के उपस्थान म 'असौ अदः मा प्रापद्' ये चार शब्द हैं। इनका अर्थ

है 'यह इसको नहीं प्राप्त करे' जैसे कोई हमारा शत्रु है देव यह हमें मारने का प्रयत्न कर रहा है तो हमें उपस्थान म उसका नाम लेकर यह पढ़ना चाहिये "मेरा जो यह देवदत्त वाला शत्रु है इसको मेरे मारने में सफलता न प्राप्त हो" (अ देवदत्ताय मम मारणे सफलता न प्राप्नुयात्) इस भाँति उपस करने वाला जिससे द्वेष करता हो उसका नाम लेकर कहे "उसकी जो यह कामना है वह पूरी न हो। इस प्रकार कह ऊपर के मंत्र से उपस्थान करे। इस प्रकार जिस कार्य की सि के निमित्त या शत्रु के कार्य की असिद्धि के निमित्त जो उपस्थ किया जाता है, तो उपस्थान करने वाले की कामना पूर्ण जाती है। अर्थात् जैसे देवदत्त की जो मुझे मारने की कामना वह पूरी न हो, इस भावना से उपस्थान किया है तो देवदत्त कामना कभी भी पूर्ण न होगी। और उपस्थान में मुझे अमु वस्तु प्राप्त हो जाय, मुझे विद्या प्राप्ति में सफलता मिले, तो उसक ऐसी कामना पूर्ण हो जायगी। जैसी कामना से उपस्थान करेग उसको लोक परलोक तथा मोक्ष सब धर्म मनोकामना पूरी होगी यही गायत्री के उपस्थान का फल है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार गायत्री के उप स्थान मंत्र का भाव तथा उसके फल को बताकर अब प्रसंगा-नुसार गायत्री के मुख को जानने के सम्बन्ध में एक आख्यायिका को और बताकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। उसी सम्बन्ध की कथा कहते हैं—

महाराज विदेहराज जनक की सभा में सदा अच्छे-अच्छे विद्वान् आया करते थे। परमार्थ सम्बन्धी छोटे से छोटे बड़े से बड़े प्रश्नों का उनकी राजसभा में निर्णय हुआ करता था। एक बार अश्वतराश्व महामुनि के पुत्र बुडिल महाराज विदेहाधि-

पति जनक की सभा में आये। राजा ने उनसे पूछा—"ब्रह्मन्! आप किस विषय के ज्ञाता हैं? किसकी उपासना करते हैं?"

बुडिल मुनि ने कहा—"राजन्! मैं गायत्री के तत्व का ज्ञाता-गायत्रीविद्-हूँ।"

राजा ने पूछा—"तब तो आप प्रतिग्रह के दोष से सर्वथा मुक्त ही होंगे?"

बुडिल ने कहा—"राजन्! मैं प्रतिग्रह के दोष से मुक्त कहाँ हूँ, प्रतिग्रह के भार को नित्य हाथी के समान वहन करता हूँ।"

राजा ने कहा—'गायत्री तत्व के ज्ञाता होकर भी फिर आप प्रतिग्रह के भार को हाथी के सदृश क्यों ढो रहे हैं?"

बुडिल ने कहा—'राजन्! यद्यपि मैं गायत्रीविद् हूँ, फिर भी मुझमें एक त्रुटि है?"

राजा ने पूछा—"वह त्रुटि कौन सी है?"

बुडिल ने कहा—'हे सम्राट्! मैं इस गायत्री का मुख नहीं जानता।"

राजा ने कहा—"आप आज्ञा दें, तो गायत्री के मुख के सम्बन्ध में मैं बताऊँ?"

बुडिल ने कहा—"हाँ, सम्राट्! बताइये।"

तब राजा जनक ने कहा—"गायत्री का मुख अग्नि ही है।"

बुडिल ने पूछा—'गायत्री का मुख अग्नि किस प्रकार है?"

महाराज जनक ने कहा—'देखिये, प्रज्वलित अग्नि में मनुष्य चाहें जितना ईंधन डालते जायँ, तो वह सभी को जलाकर भस्म कर देगी। इसी प्रकार गायत्री मंत्र के तत्त्व को और उसके मुख अग्नि को जानने वाला गायत्रीविद् पुरुष प्रतिग्रह सम्बन्धी बहुत सा पाप कर रहा हो, तो भी गायत्री देवी उसके समस्त पापों को भक्षण करके उसे विशुद्ध बना देती है। गायत्री के जप

करने वाला पुरुष प्रतिग्रह सम्बन्धी समस्त दोषों से विमुक्त बनकर शुद्ध, पवित्र अजर-अमर बन जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"सो, मुनियो ! महाराज जनक के उपदेश से गायत्री के उपासक महर्षि बुडिल उसके मुख के ज्ञान से प्रतिग्रह जनित पाप से मुक्त होकर अजर-अमर हो गये। इस आख्यान का सार इतना ही है, कि मनुष्य गायत्री मन्त्र के जाप से प्रतिग्रह सम्बन्धी दोष से छूट जाता है। यह मैंने आपसे गायत्री मन्त्र की उपासना के सम्बन्ध से इसके चारों पादों की फल सहित उपासना, गायत्री की प्राण-प्रतिष्ठा, गायत्री शब्द निर्वचन, सावित्री गायत्री का ही बटु को उपदेश और उसका फल तथा गायत्री का उपस्थान और उसके मुख के सम्बन्ध में कहा। अब आगे जैसे आदित्य और अग्नि से प्रार्थना की जाती है उस प्रार्थना के भाव के सम्बन्ध में कहा जायगा। यह ज्ञानकर्म समुच्चयकारी दिव्यातिदिव्य प्रार्थना है। आशा है इसे आप सब जानते हुए भी दत्तचित्त होकर श्रवण करेंगे।"

छप्पय

(१)

प्रान अपान हु व्यान तृतिय पद आठ सु अच्छर।
जीतें प्रानी सकल तुरिय जो पद शुभ द्विजवर।।
रवि मंडल में पुरुष प्रकाशित ऊपर ऊपर।
जो जानें जा रहस पाइ शोभा सुकीति वर।।
रज तें पर जो तुरिय पद, सत्य माहिँ सो प्रतिष्ठित।
चक्षु सत्य यह ख्याति जग, सत्य-प्राण-बल विदित अति।।

(२)

प्रान प्रान नित करै कही गायत्री जावै ।
उपदेशे गुरु बटुहिँ नित्य रक्षा हित धावै ॥
एक अनुष्टुप छन्द ताहि गुरु कान न देवै ।
गायत्री जो छन्द, ताहि सावित्रिहिँ सेवै ॥
दोऊ सावित्री कही, एक अनुष्टप चारि पद ।
गायत्री उपदेश नित, करै कही जो तीनि पद ॥

(३)

करति प्रतिग्रह दोष-नाश प्रतिपद गायत्री ।
लेइ दान भरपूर दोष नासति सावित्री ॥
उपस्थान नित करै एक द्वै तीनि चारि पद ।
तुरिय रजनि तें रहित नित्य निरुपाधिक बिनु पद ॥
नहीं कामना पूर्ण तिनि, जे हमतें करि द्वेष जन ।
करै कामना पूर्ण मम, गायत्री मम भरहिँ मन ॥

(४)

जनक बुडिल तें कहें—प्रतिग्रह-भार वहौ कस ?
गायत्री मुख जानि बिना दुख सहूँ नृपति ! अस ॥
गायत्री मुख अग्नि होइ ईंधन स्वाहा सब ।
गायत्री मुख जानि रहें का दोष शेष अब ?
गायत्री है मोक्षप्रद, नाश करति सब हृदय मल ।
गायत्री की शरन गहि, अजर अमर हौं नर विमल ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पञ्चम अध्याय में
चौदहवाँ गायत्री ब्राह्मण समाप्त ।

—०—

आदित्य और अग्निदेव से अन्तकाल में प्रार्थना

[२६४]

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥*
(बृ० उ० ५ अ० १५ ब्रा० १...म०)

छप्पय

हे पूषन्! यम! सूर्य! एक ऋषि! जगपोषक प्रभु!
सत्य ब्रह्म मुख सुखद, ज्योतिमय पात्र ढक्यो विभु!!
इच्छुक हौं सत धरम उघारौ ताकूँ स्वामी।
किरननि लेइ समेटि सिकोड़ौ अन्तरजामी॥
रवि मंडल महँ अमृतमय, मेरो वही स्वरूप तहँ।
प्राण-वायु महँ भस्म तनु, कृत सुमिरन कर अन्त महँ॥

प्रार्थना में बड़ा बल होता है। मनुष्य जिस बात को मन से निरन्तर सोचता रहता है, वह सब प्रकार से प्रार्थना ही करता रहता है। क्योंकि प्रार्थना शब्द का अर्थ ही यह प्रकर्ष करके

* सुवर्णमय चमकते हुए पात्र से सत्य स्वरूप ब्रह्म का मुख ढका हुआ है। हे पूषन्! मैं सत्यधर्म को देखने का इच्छुक हूँ, ऐसे मेरे लिये तुम उस ज्योतिर्मय पात्र को उघाड़ दो।

अर्थात् निरन्तर की याचना है माँगना है उसी का नाम प्रार्थना है। (प्रकर्षेण=याचनम्=इति-प्रार्थनम्) हम निरन्तर सोचते रहें-हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, हमारा अन्तःकरण शुद्ध हो जाय, तो निरन्तर सोचते सोचते एक दिन शुद्ध हो ही जायगा, क्योंकि प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। फिर भी किसी देवता को प्रतीक मानकर उसे सम्बोधन करके जो अभ्यर्चना, याचना प्रार्थना की जाती है, उसमें विशेष बल रहता है। जैसे कोई चिल्लाता फिरे मुझे भूख लग रही है, कोई रोटी दे दो। तो जब कोई दयालु पुरुष आवेगा, तभी वह देगा, इसमें बहुत देर भी लग सकती है, किन्तु किसी दयालु पुरुष के समीप जाकर उसको सम्बोधन करके प्रार्थना करे—श्रीमन्! मुझे भूख लगी है कुछ भोजन दिला दीजिये। तो वह दयालु तुरन्त दिला देगा। समीप जाकर याचना करना इसी का नाम उपासना-प्रार्थना है। अनादि काल से द्विजातिगण गायत्री की ही उपासना करते आये हैं। भगवान् मनु तो यहाँ तक कहते हैं-ब्राह्मण अन्यत्र श्रम करे चाहे न भी करे यदि वह केवल एकमात्र गायत्री माता का ही आश्रय ग्रहण कर ले तो गायत्री मात्र में निष्णात ब्राह्मण भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उसे दूसरे मन्त्र की दीक्षा लेने की कोई आवश्यकता नहीं। प्राचीन काल से जितने भी राजर्षि, देवर्षि महर्षि तथा ब्रह्मर्षि होते चले आये हैं, उन सबने केवल गायत्री की ही उपासना की है।

सभी रूपों में वे परब्रह्म परमात्मा ही व्याप्त हैं। किन्तु उपासना करने के १-भगवत् मूर्ति, २-वेदी, ३-अग्नि, ४-सूर्य, ५-जल, ६-हृदय और साधु महात्मा, गुरु ब्राह्मण अतिथि इनमें से किसी को भी भागवान् का प्रतीक मानकर उनकी उपासना करनी चाहिये उनसे प्रार्थना करनी चाहिये।

वैसे तो अपनी मानसिक भावना को किसी भी भाषा में कैसे भी व्यक्त करे–भगवान् सबकी सुनते ही हैं, क्योंकि भगवान् तो घट घट में व्याप्त हैं सबके हृदय की भावनाओं को जानते हैं। उनकी प्रार्थना में भाषा की प्रधानता नहीं है भाव की प्रधानता है। पंडित विष्णवेनमः कहता है। मूर्ख रामाय नमः की भाँति विष्णाय नमः कहता है, तो विष्णाय नमः कहने वाले से भगवान् घृणा नहीं करते क्योंकि वे तो भावग्राही हैं। वे जानते हैं–विष्णाय नमः से इसका भाव विष्णु के लिये नमस्कार से ही है। वे अन्तर की भावना को समझ लेते हैं, तथापि परम्परा से चली आयी हुई प्रार्थना के शब्दों में उनके भावों में–विशेष बल होता है। जिस वाद्य को चिरकाल तक अच्छा कलाकार बजाता रहता है उसमें अन्य वाद्यों की अपेक्षा विशेष शक्ति संनिहित रहती है। इसी प्रकार जिन मन्त्रों को प्रार्थना के रूप में चिरकाल से ऋषि महर्षि प्रयोग करते आये हैं, उन मन्त्रों से प्रार्थना करने में विशेष लाभ होता है।

आरम्भ को जो ईशावास्योपनिषद् है उसके अन्तिम जो पन्द्रहवें, सोलहवें, सत्रहवें और अठारहवें ये चार मन्त्र हैं ये प्रार्थना के सर्वश्रेष्ठ मन्त्र माने गये हैं। ईशावास्योपनिषद् में तो वे मन्त्र ब्रह्म परक माने गये हैं। वे ही मन्त्र ज्यों-के-त्यों ही यहाँ सूर्योपासना के प्रकरण में बृहदारण्यक उपनिषद् के पन्द्रहवें सूर्याग्नि प्रार्थना ब्राह्मण में दिये गये हैं। यद्यपि मन्त्र वे ही हैं, शब्द वे ही हैं, उनके भाव वे ही हैं, किन्तु यहाँ प्रकरण गायत्री का है अतः उनका अर्थ सूर्य परक ही किया जायगा। क्योंकि शब्दों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही किया जाता है। जैसे सैंधव का अर्थ घोड़ा भी है और नमक भी है। कोई व्यक्ति सज-धजकर यात्रा के लिये तैयार है औरसेवक से कहो सैंधव ले

आओ, तो वह घोड़ा को ही लावेगा क्योंकि यहाँ प्रकरण यात्रा का है। इसी प्रकार वह भोजन कर रहा हो और रसौये से कहे कि, सैंधव लाओ, तो वह नमक ही देगा, क्योंकि प्रकरण यहाँ भोजन का है। इसलिये अर्थ प्रकरणानुसार ही किया जाता है। वैसे सूर्य, अग्नि, प्राण, अन्न, ये सब नाम उन्हीं परब्रह्म परमात्मा के ही हैं। अपनी भावना के अनुसार किसी भी रूप का किसी भी नाम का चिन्तन उच्चारण करो, वह सब परमात्मा पर ही पहुँच जाता है, जैसे नदियों का जल कैसे भी जाय, वह पहुँचेगा समुद्र में ही।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब मैं अर्चिरादि मार्गों के प्रवर्तक आतिवाहिकों में अनुप्रविष्ट जो सूर्यदेव हैं, जो गायत्री के देवता हैं उनकी प्रार्थना के मन्त्रों का भाव कहता हूँ। साधक शौचादि कर्मों से पवित्र होकर स्वच्छ अन्तःकरण से विनयावनत होकर दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर नारायण स्वरूप सविता देवता की इस भाँति स्तुति करे—

"इस समस्त संसार के पालन-पोषण करने वाले ये पूषन! हे सूर्यदेव! जो सत्य संज्ञक परब्रह्म है, उनका मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हिरण्यमय पात्र द्वारा आच्छादित है। हे भगवन्! मैं सत्य स्वरूप परब्रह्म का उपासक हूँ, उपासक जो मैं हूँ मैं उस परब्रह्म का दर्शन करना चाहता हूँ, तो मेरे दर्शन के निमित्त हे एकर्षे! उस ज्योतिर्मय पात्र को हटा लो। उस ढके हुए पात्र को उघाड़ दो, ढक्कन को थक् कर दो।"

हे यमराज स्वरूप सूर्यदेव! अपनी ज्योतिर्मय किरणों को सत्य संज्ञक परब्रह्म के मुख के ऊपर से हटा लो। अपने उग्रतेज को समेट लो।

हे सूर्यदेव ! तुम्हारा जो यह अत्यन्त मगलमय कल्याणमय स्वरूप है, उसे मैं देख रहा हूँ। उसका अनुभव मैं करता हूँ।

हे प्राजापत्य ! यह जो आदित्य मण्डल मे स्थित दिव्य स्वरूप वाला पुरुष है वह प्राण स्वरूप मे मैं ही हूँ। प्राणरूप वही अमृत मैं हूँ।

हे प्रभो ! यह जो आवरण रूप मेरा शरीर है। जब ये प्राण इस शरीर का परित्याग करके शरीर से पृथक हो जायँ-शरीर-पात हो जाय—तो शरीरपात होने के अनन्तर शरीर के भीतर विचरण करने वाली जो प्राण वायु है, वह वायु सर्वत्र व्यापक वाह्य वायु मे मिल जाय। अमृत स्वरूप जो मैं हूँ वह अमृत को प्राप्त होऊँ। यह जो मरणशील–प्राणहीन शरीर है वह भस्म शेष होकर भस्म मे मिल जाय। पार्थिव अश पृथ्वी मे आत्मसात् हो जाय।

हे प्रणव प्रतिपाद्य ओंकार स्वरूप क्रतुरूप सूर्य देव ! मैंने जो भी कुछ स्मरण करने योग कर्म किये हों, उनका आप स्मरण करें। मेरे द्वारा जो भी कुछ हुआ है उन कर्मों का आप स्मरण करें क्योंकि आप ही समस्त कर्मों के साक्षी हैं।

हे क्रतुरूप सूर्य देव ! मेरी पुनः पुनः आपके पाद पद्मों में प्रार्थना है आप जो भी स्मरण करने योग्य मेरे कर्म हों, उनका अवश्य ही स्मरण कर लें।

हे अग्निदेव ! आप ही अर्चिरादि मार्ग में आगे ले जाने वाले हैं। इसलिये आप हमे कर्मों की फल प्राप्ति के हेतु शुभ मार्ग जो देवयान मार्ग है, उसी सुपथ की ओर ले चलें।

हे देवाधिदेव अग्निदेव ! तुम प्राणियों के समस्त प्रज्ञानों को जानने वाले हो अर्थात् तुमसे हमारे द्वारा किये हुए कोई भी

कर्म छिपे हुए नहीं हैं। हमारे यदि कोई बन्धनात्मक कुटिल कर्म हों, जो नहीं करने चाहिये उनको हमने किया हो अथवा जिन्हें अवश्य करना चाहिये उन्हें न किया हो ऐसे जो जुहुराण-पाप कर्म-हैं-उन्हें हमसे दूर कर दीजिय। अर्थात् हमारे पाप कर्मों को भस्मसात् कर दीजिये। हम आपके पाद-पद्मों में पुन पुनः प्रणाम करते हैं। हम आपके निमित्त बहुत से नमस्कार वचनों का विधान करते हैं। नमस्कार करने के अतिरिक्त हम और कुछ भी करने में असमर्थ हैं। कृपया आप हमारी इस नमस्कार से ही प्रसन्न हो जायँ।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार अन्तकाल में जो साधक आदित्य और अग्नि की विनम्र भाव से इस प्रकार प्रार्थना करता है, वह पुण्यपथ का पथिक बनकर अमृतत्व को प्राप्त होता है, यह मैंने आपसे अन्तकाल की आदित्य और अग्नि का प्रार्थना कही, अब आगे जैसे ज्येष्ठ श्रेष्ठ दृष्टि से जैसे पहिले कह आये हैं वैसे ही पुनः प्राणोपासना को कहेंगे। ऐसे प्रकरणों को बार-बार सुनना चाहिये, इनमें पुनरुक्तिदोष नहीं हुआ करता।

छप्पय

(१)

सूर्यदेव! तुम साच्छि सकल ही कृत करमनि के।
अग्निदेव! तुम विज्ञ जीव के प्रज्ञानिनि के॥
हमें सुपथ ले चलो कुपथतें सतत निबारो।
करे कुटिल कछु करम तिनहिँ अब दूरि निकारो॥
बार बार बिनती करें, योग्य होइँ सुमिरन करम।
तिनिहीं को सुमिरन करो, जानत तुम हिय को मरम॥

(२)

करम फलनि के हेतु मार्ग शुभ देव ! दिखाओ।
ब्रह्म परम धन कह्यो ताहिके ढिंग पहुँचाओ ॥
सेवा समरथ नहीं उभय अंजलि कर जोरें।
आये तुमरी शरन अन्त सब नाते तोरें ॥
सेवा कछु नहिं करि सकें, शीश चरन कमलनि धरें।
पुनि पुनि प्रभु पद पदुम में, प्रनत होइ इस्तुति करें ॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के पंचम अध्याय में
पन्द्रहवाँ सूर्याग्नि प्रार्थना ब्राह्मण समाप्त ।

पञ्चम अध्याय समाप्त ।

षष्ठ अध्याय

ज्येष्ठ-श्रेष्ठ दृष्टि से प्राणोपासना

[२६५]

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्चश्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥*

(बृ० उ० ६ अ० १ ब्रा० १ म०)

छप्पय

ज्येष्ठ श्रेष्ठ है प्रान उपासक तद्वत होवै।
ज्ञाति जनन महँ ज्येष्ठ होइ लघुतावूँ खोवै॥
वाक् वशिष्ठा कही उपासक होवे तद्वत।
चक्षु प्रतिष्ठा कहा उपासक होइ प्रतिष्ठित॥
श्रोत्र सकल सम्पद् कही, वद प्रान महँ निहित हैं।
सम्पद की करि उपासन भोग सकल शुभ मिलत हैं॥

---

* जो साधक ज्येष्ठ श्रेष्ठ को जानता है वह अपने ज्ञाति जनों में ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हो जाता है। प्राण ही ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ हैं। जो इस प्रकार जानता है वह अपने बन्धु बान्धवों में तथा अपने से भिन्न और भी जिनमें वह ज्येष्ठ-श्रेष्ठ होना चाहता है, उन सब में ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के पचम अध्याय के पहिले खंड से लेकर दशम् खंड तक ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्रवाहण श्वेतकेतु आरुणि सम्वाद है। उसी को कुछ हेर फेर के साथ यहा बृहदारण्यक उपनिषद् के तीन ब्राह्मणों मे कहा गया है। यद्यपि ये सब बातें पीछे आ चुकी हैं। इसलिये यहाँ प्रकरणवश उन सब का अत्यन्त सक्षेप मे वर्णन किया जाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ज्येष्ठ और श्रेष्ठ प्राण ही हैं। इसलिये प्राण की ही उपासना करनी चाहिये। उस उपासना का फल यह है कि जो ज्येष्ठ-श्रेष्ठ रूप से प्राणोपासना करता है वह अपने स्वजनों मे और जिन में चाहता है उन सब मे ज्येष्ठ-श्रेष्ठ हो जाता है।

जैसे प्राण की ज्येष्ठ-श्रेष्ठ संज्ञा बतायी वैसे ही वाणी की वशिष्ठा संज्ञा है। वाणी की वशिष्ठा रूप में उपासना करने वाला वशिष्ठ--वाक् चातुरी वाला हो जाता है।

इसी प्रकार चक्षु की प्रतिष्ठा संज्ञा है उसका उपासक प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रोत्र का सम्पद् सज्ञा है उसका उपासक मनोनुकूल सम्यक् भोगो को प्राप्त करता है। मन की आयतन संज्ञा है। उसका उपासक आयतनवान्--आश्रय सम्पन्न--होता है। रेतस् की प्रजापति संज्ञा है उसका उपासक प्रजावान पशुवान होता है।

प्राण ही सब इन्द्रियो मे श्रेष्ठ क्यों है। इस पर पीछे कही हुई कथा को दुहराते हैं। सब इन्द्रियाँ अपने को श्रेष्ठ बताती हुई निर्णय निमित्त प्रजापति के पास गयीं। प्रजापति ने कहा—"जिसके बिना इस शरीर का काम न चले वही सबसे श्रेष्ठ है। इस बात की परीक्षा के लिये शरीर को त्यागकर क्रमशः वाणी, चक्षु, श्रोत्र मन तथा वीर्य ये सब शरीर को छोड़कर चले गये।

इनके चले जाने पर भी जैसे गूँगे, अन्धे, बहरे, पगले या बालक तथा नपुंसकों का काम चलता है वैसे शरीर का काम चलता ही रहा। जब प्राण शरीर से पृथक् होने लगा तब तो सब इन्द्रियाँ घबडायीं तब सब इन्द्रियों ने मिलकर प्राण की स्तुति की और उसे सर्वसम्मति से सबने ज्येष्ठ-श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया। प्राण ने अपना अन्न पूछा तो वागादि ने सभी को उनका अन्न और जल को वस्त्र बता दिया। अभक्ष्य का प्रतिग्रह और समग्रह न होना और भोजन के आदि अन्त में आचमन करने से प्राण का अनग्न न होना यह उसके अन्न वस्त्र जानने का फल बताया गया।

इसके अनन्तर वहीं छान्दोग्य उपनिषद् में कही हुई प्रवाहण और श्वेतकेतु की कथा बतायी है वह संक्षेप में इस प्रकार है —

महर्षि आरुणि के पुत्र श्वेतकेतु से उनके पिता ने कह दिया "मैंने तुम्हें सम्पूर्ण शिक्षा दे दी।" तब श्वेतकेतु पाचालों की राजसभा में गया, वहाँ जावल राजा के पुत्र प्रवाहण सेवकों से परिचर्या करा रहे थे। प्रवाहण ने श्वेतकेतु से पूछा—"तुम्हारे पिता ने तुम्हें कितनी शिक्षा दी है ?" उसने कहा—"सम्पूर्ण शिक्षा दी है।" तब प्रवाहण ने उससे पाँच प्रश्न किये।

(१) यह प्रजा मरने पर किस प्रकार विभिन्न मार्गों से जाती है ?

(२) ये प्रजा के लोग किस प्रकार पुनः इस भू लोक में आते हैं।

(३) बहुत से लोग बार बार मरते हैं, उनसे यह लोक भरता क्यों नहीं ?

(४) कितने बार की आहुति हवन से जलपुरुष शब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है ?

(५) देवयान और पितृयान जो देव तथा पितर सम्बन्धी दो मार्ग हैं। जो पिता माता के मध्य में हैं, इन दोनों मार्गों के कर्म रूप साधन को तुम जानते हो ?

श्वेतकेतु ने पाँचों के प्रति अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। प्रवाहण ने उससे ठहरने को कहा, वह ठहरा नहीं। सीधा पिता के पास पहुँचकर सब वृत्तान्त सुनाकर बोला- "उस क्षत्रियबन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, मैं एक का भी उत्तर न दे सकने के कारण अत्यन्त अपमानित हुआ। आपने तो कहा था मैंने तुझे सभी शिक्षा दे दी।"

आरुणि ने कहा—"बेटा! मैं जितना जानता था उतनी शिक्षा तुझे दे दी थी। इन बातों को तो मैं स्वयं भी नहीं जानता चलो, उस राजा से ही चलकर पूछें।"

श्वेतकेतु ने कहा—"मैं तो वहाँ जाऊँगा नहीं, आप ही जाकर उससे पूछें।" तब आरुणि अकेले गये। राजा के आतिथ्य को स्वीकार करके उनसे यही वर माँगा कि मेरे पुत्र से जो आपने पाँच प्रश्न पूछे थे उनका उत्तर मुझे बता दीजिये।"

प्रवाहण ने कहा—"ऐसे कैसे बता दें, आप नियमानुसार मेरा शिष्यत्व स्वीकार कीजिये। अब तक यह विद्या क्षत्रियों पर ही रही है।"

आरुणि ने वचन से ही राजा का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, तब प्रवाहण ने बिना क्रम के पाँचों प्रश्नों का यों उत्तर दिया—"सबसे पहिले चौथा जो यह प्रश्न है कितनी बार आहुति के हवन करने पर आपपुरुष शब्दवाच्य होकर उठकर बोलने लगता है।"

सथा सभी क्रियायें करने लगता है। यह तो चौथे प्रश्न का उत्तर हुआ। इसी उत्तर के अधीन शेष सभी प्रश्नों का उत्तर था। इस लिये पहिले चौथे प्रश्न का उत्तर दिया। अब पहिला जो यह प्रश्न था कि मरने पर प्रजा किन मार्गों से ऊपर के लोकों को जाती है, उसका उत्तर देत हैं।

१—पैदा होकर पुरुष अपने कर्मानुसार जितने दिन की उसकी आयु है, तब तक जीवित रहता है, जब कर्म समाप्त होते हैं, तब वह मर जाता है, उसे परिवार वाले जलाते हैं। वह जलाना अंतिम संस्कार भी एक यज्ञ है। उस यज्ञ में साक्षात् अग्नि ही अग्नि है। जिन लकड़ियों स जलाते हैं वे ही समिधायें हैं। जलाने पर जो धुँआ निकलता है, वही धूम है। जलाने पर जो अग्नि की लपटें निकलती हैं, वे ही ज्वालायें हैं। लकड़ियाँ जलकर जो कोयले हो जाते हैं, वे ही अंगारे हैं, और अग्नि जलते समय चट-चट करके जो चिनगारियाँ निकलती हैं, वे ही विस्फुलिङ्ग हैं। उस चिता की अग्नि में देवगण उस मृतक पुरुष को ही होमते हैं, होमने से उसका स्थूल शरीर तो जल जाता है, सूक्ष्म शरीर दीप्तिमान होकर चिता से बाहर निकल आता है। जलने वाला गृहस्थ वानप्रस्थ अथवा सन्यासी कोई भी पुरुष क्यों न हो, गृहस्थ होकर जो पंचाग्नि विद्या का ज्ञाता है, वानप्रस्थ या यति होकर श्रद्धायुक्त होकर वन में सत्य स्वरूप परब्रह्म की उपासना करता है, ये देवयान या पितृयान किस मार्ग से जाते हैं अब इस पाँचवें प्रश्न का उत्तर देते हैं—

(५) ये दीप्तिमान पुरुष अर्चि अभिमानी ज्योति के अधिष्ठातृ देव को सर्व प्रथम प्राप्त होते हैं। फिर क्रमशः दिन के, शुक्लपक्ष के, उत्तरायण के, षड्मासाभिमानी देवों को और वहाँ से क्रमशः देवलोक, सूर्यलोक और विद्युत्लोक के अभिमानी

देवों को प्राप्त होता है। वहाँ वैद्युत देवों के पास एक मानस पुरुष आता है, वह उसे देवलोक में ले जाता है। वहाँ वह निरन्तर सदा सर्वदा निवास करता है, उसकी पुनः संसार में आवृत्ति नहीं होती। यह पंचम प्रश्न के देवयान मार्ग का उत्तर हुआ। उसमें देवयान और पितृयान दोनों ही का प्रश्न है, अतः अब पितृयान या धूमयान मार्ग का वर्णन किया जाता है। देवयान तो विज्ञानमय मार्ग है, जो ज्ञान द्वारा विचार द्वारा कर्तव्य कर्मों को करते हुये निष्काम कर्मों द्वारा मनन, चिन्तन, स्मरण, विचार, विवेक भक्ति करते हुए जाते हैं वे अपुनरावृत्ति वाले सनातन लोकों में जाकर फिर कभी लौटते नहीं, किन्तु जो केवल यज्ञ, दान तथा तपादि शुभ कर्मों के द्वारा शुभ लोकों में-पुण्यलोकों में जाते हैं उन्हें तो फिर इस कर्मभूमि भूलोक में लौटना पड़ता है, यही पितरों का मार्ग है, देवयान तो अर्चिमार्ग प्रकाश का पथ-था। यह पितृयान-धूम का-अन्धकार का-पथ है। उसका क्रम इस प्रकार है। इसमें दूसरे तथा तीसरे प्रश्न का भी उत्तर आ जायगा।

मरने पर जो उनका आतिवाहिक शरीर है, वह सबसे पहिले धूमाभिमानी देवताओं को प्राप्त होता है, फिर क्रमशः रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायनाभिमानी देवों को प्राप्त होते हैं, वहाँ से पितृलोक को पितृलोक से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। क्योंकि चन्द्रमा-सोम-प्राणिमात्र का अन्न है, इसलिये चन्द्रलोक में जाकर उनका अन्न स्वरूप हो जाता है। उसे देवता पानकर जाते हैं। अर्थात् वे देवताओं के भोग्य पदार्थ होकर शुभ कर्मों की समाप्ति तक चन्द्रलोक में रहते हैं, कर्म क्षीण हो जाने पर वे आकाश में धकेल दिये जाते हैं। आकाश से वे क्रमशः वायु को प्राप्त होते हैं, वायु से जलरूप होकर वृष्टि को प्राप्त होते

हैं, वृष्टि द्वारा बरसकर पृथ्वी में आते हैं, वहाँ चन्द्रलोक में तो वे देवताओं के भक्ष्य सूक्ष्म अन्न थे। पृथ्वी में आकर मनुष्यों के भक्ष स्थूल अन्न बन जाते हैं, उस अन्न को पुरुष की जठराग्नि में हवन किया जाता है, अर्थात् उस अन्न को प्राणी खाते हैं। उसका वीर्य बनता है। उस वीर्य को स्त्री रूपी अग्नि में हवन किया जाता है अर्थात् वीर्य का गर्भ में आधान किया जाता है। उससे पुरुष उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर पूर्व संस्कारों के कारण फिर यज्ञ, दान, तपादि शुभ कर्मों को करते हैं, उनके फल स्वरूप पुनः चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं पुनः पृथ्वी पर अन्न बनकर आते हैं, इस प्रकार पुनः पुनः परिवर्तित होते रहते हैं, जन्मते और मरते रहते हैं। जो न ज्ञान द्वारा देवयान मार्ग से जाते हैं और न यज्ञ, दान और तपस्या द्वारा पितृयान मार्ग को जाते हैं। सामान्य कर्मों को करते हुए आहार, निद्रा, मैथुनादि कर्मों में ही निरत रहते हैं। वे इन दोनों में से किसी भी मार्ग को न जाकर कीड़े मकोड़े, भिनगे-पतंगे, डास-मच्छरादि योनियों को प्राप्त होकर चौरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं।

इस प्रकार पाँचवें प्रश्न में तो देवयान और पितृयान सम्बन्धी प्रश्न था। दूसरा प्रश्न था यह जीव परलोक से लौटकर पुनः कैसे इस लोक में आता है ? इसका भी उत्तर हो गया कि वह चन्द्र से आकाश, वृष्टि, जल, अन्न, होकर माता के उदर से उत्पन्न होता है। तीसरा प्रश्न यह था कि नित्य इतने लोग मर कर उन लोकों में जाते हैं, वे भरते क्यों नहीं ? इसका भी उत्तर हो गया, कि वे भरें कहाँ से, बहुत से जाते रहते हैं, बहुत से वहाँ से लौटते रहते हैं। यह आवागमन अनादि काल से चल रहा है, अनन्त काल तक चलता रहेगा। यह तो धर्मशाला है। दश यात्री आज आये यांस चले गये। जो जाते हैं आने

वालों के लिये कोठरी खाली करके चले जाते हैं। स्थायी रूप से बस ही जायँ, तब तो लोक भर हो जायँ, किन्तु जब आवागमन निरन्तर लगा ही रहता है, तब भरें कैसे ? इस प्रकार इस उत्तर में पाचवें दूसरे तीसरे तीन प्रश्नों का उत्तर हो गया। पहिले और चौथे का उत्तर पीछे दे ही आये हैं।

सूतजी कहते हैं—"सो, मुनियो ! राजा प्रवाहण द्वारा गौतम गोत्रीय आरुणि महर्षि पाँचों प्रश्न का उत्तर पाकर संतुष्ट होकर चले गये। इस प्रकार इन पाँचों प्रश्नों के द्वारा कर्म विपाक का वर्णन किया, अब आगे प्राचीन काल में यज्ञों में एक मन्थ तैयार किया जाता था। वह मन्थ कैसे तैयार करना चाहिये इसे बतावेंगे। यद्यपि मन्थकर्म विधि पीछे भी बता चुके हैं, उसी को कुछ हेर फेर से फिर यहाँ बतावेंगे। उसे भी आप सब ध्यान पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

(१)

है मन ही आयतन होइ आयतनवान जन।
रेत प्रजापति कह्यो प्रजा पशु होइ तासु धन॥
इन्द्रिनि मच्यो विवाद प्रजापति निरनय कीयो।
जा बिनु चलै न देह श्रेष्ठ पद ताही दीयो॥
वाक्, चक्षु अरु श्रोत्र मन, गये देह तैं चल्यो तन।
प्रान जात हा हा मच्यो, प्राण श्रेष्ठ समुझ्यो सबन॥

(२)

अन्न वस्त्र हित प्रान कह्यो सब खाद्य अन्न तब।
वस्त्र-नीर आचमन अशन-द्वय आच्छादन सब॥
श्वेतकेतु तैं प्रश्न प्रवाहण पाँच करे जब।
नहिँ उत्तर दे सक्यो पिता ढिँग जाइ कह्यो सब॥

आरुणि मुनि नृप ढिंग कह्यो, पाँच प्रश्न समुझाइ दें।
शिष्य बने जब वाक् तें, कह्यो प्रवाहण ध्यान दें॥

(३)

आप पुरुष आहुती दिये कें बोले उचित!
है यह पाँचो प्रश्न देइ उत्तर यों नरपति॥
स्वरग अगिनि, पर्जन्य, लोक इह योषाग्नी, नर।
अग्नि, समिध अरु धूम, अगारे, चिनगारी वर॥
द्रव्य हविष्यहु तासु फल, सब अगिननि क्रम तें कहे।
स्वरग अगिनि, ईंधन रविहिं किरन धूम, दिन ज्वाल हैं॥

(४)

दिशि अंगार उपदिशा कही चिनगारी निहिं जल।
करि श्रद्धा को होम सोम राजा प्रकटित फल॥
मेघ अगिनि सवनहु, समिध, धूआँ अभ्रहु है।
विद्युत ज्वाला अशनि अँगारे गर्जन चिनि है॥
सोम राज सुर हवन करि, होइ वृष्टि फल तासु तें।
अग्नि कही इहलोक की, अन्न होइ फल तासु तें॥

(५)

स्वरग अगिनि फल सोम मेघ अगिनी तें वृष्टी।
लोक आगिनि तें, अन्न रेत नर योषित-सृष्टी॥
वीर्य रूप जल होइ पाँचवीं पुरुष बनावै।
नर मरि जरि बनि दिव्य देव मारग तें जावै॥
अर्चि, दिवस, पच्छहिं शुकुल, जाइँ फेरि उत्तर अयन।
देव, सूर्य, विद्युत पलहिं, ब्रह्मलोक बसि सनातन॥

(६)

पितृयान तैं आइ यज्ञ, तप दान करम करि।
धूम, राति, पख कृष्ण, अयन दखिखन आवैं फिरि॥
पितृलोक तैं चन्द्रलोक पुनि पृथिवी आवैं।
नभ पुनि वायु हु वृष्टि अन्न बनि जीव कहावैं॥
पुनि आवैं पुनि जाइँ वे, लोक सनातन नहिं लहैं।
शेष मशक कीटादि बनि, भू के भू ई पै रहैं॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
द्वितीय कर्म विपाक नामक ब्राह्मण समाप्त।

धन वैभव महत्त्व के लिये श्रीमन्थन कर्म और उसकी विधि

[२६६]

स यः कामयेत महत् प्राप्नुयामित्युदगयन आपूयमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषध फलानीति सम्भृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृत्याज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ सनीय जुहोति ॥*

(वृ० उ० ६ अ० ३ ब्रा० १ मं०)

छप्पय

श्रीमन्थन विधि कहँ महत्ता प्राप्त करावै ।
शुक्लपक्ष तिथि पुन्य उत्तरायन जब आवै ॥
बारह दिन पी दूध कटोरा गूलर का करि ।
सर्वौषध फल आदि कटोरे में भरिकें धरि ॥
वेदी कुशाहँ बुहारिकें, गोबर जल लीपै सुघर ।
चहुँदिश कुशा बिछाइकें, नर नक्षत्रहिं मन्थ धरि ॥

---

* जो पुरुष चाहे मैं महत्त्व प्राप्त करूँ वह उत्तरायण शुक्लपक्ष की पुण्य तिथि शुभ वार मे मन्थानुष्ठान करे। पहिले बारह दिन केवल दूध ही पीकर रहे। फिर गूलर की लकडी के कटोरे मे अथवा चमसाकार पात्र मे सर्वौषधियों को फलो को तथा अन्य सबको इकट्ठा करके वेदी को कुशो से बुहार कर जल गोबर से लीपकर स्मार्त अग्नि के समीप मे वेदी के चारो ओर कुशा बिछाकर घृत का संस्कार करके पुल्लिङ्ग नक्षत्र मे श्रीमन्थ, को अपने और अग्नि के बीच में रखकर हवन करे।

भगवान् वेदव्यासजी ने महाभारत में एक अत्यन्त ही मार्मिक श्लोक कहा है। वे कहते हैं—"मैं दोनों हाथों को ऊपर उठाकर रोता हूँ, लोगों से रो-रोकर कहता हूँ किन्तु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। अरे भाइयो! तुम्हें धन प्राप्त करना हो, तो धर्मपूर्वक करो धर्म से भी धन मिल जाता है, मैथुन सुख का अनुभव करना हो, तो उसे भी अधर्मपूर्वक न करके धर्मपूर्वक करो। धर्म से भी कामसुख की प्राप्ति हो सकती है। जो धर्म धन भी प्राप्त करा सकता है, कामसुख का भी अनुभव करा सकता है और इन्हें धर्मपूर्वक करते हुए स्वर्ग भी मिल सकता है, तो उस धर्म का सेवन तुम क्यों नहीं करते?"*

भगवान् वेदव्यासजी ने यह कैसी हृदयस्पर्शी मार्मिक बात कही है। धन दो प्रकार से मिलता है धर्मपूर्वक शास्त्रोक्त अनुष्ठानों द्वारा सदाचरण सद्व्यवहार द्वारा तथा असत्य, दम, कपट दूसरों को हानि पहुँचाकर असत्य व्यवहार द्वारा। असत्य से जो धन होगा वह असीम क्लेश चिंता कर अशुचियुक्त होगा। धन व्यापार तथा भिक्षादि से प्राप्त होता है। व्यापार में सत्य का भी व्यवहार हो सकता है और असत्य का भी। सत्य से, सदाचार से धर्मपूर्वक जो धन मिलेगा वह सीमित संयत परम पवित्र होगा। इसी प्रकार मैथुन सुख भी धर्म और अधर्म दोनों ही प्रकार से प्राप्त होता है। धर्मपूर्वक शास्त्रोक्त विधि से, अपनी ही धर्मपत्नी में, ऋतुकाल में ही वेद के मन्त्रों द्वारा, विधि विहित जो, मैथुन सुख मिलेगा, वह संयत, सीमित, स्वर्गप्रद होगा। और स्वेच्छाचार से परस्त्रियों, वेश्याओं, स्वैरिणियों, स्वच्छन्द

---

* ऊर्ध्वं बाहु विरौम्येतत् न कश्चिच्छृणोति मे।
[illegible] स धर्मः किं न सेव्यते॥

गामिनियों तथा परनारियों द्वारा जो मैथुन सुख प्राप्त होगा, वह असीम, अपवित्र, दुःख क्लेश और रोगों का उत्पादक तथा अन्त में नरकों में ले जाने वाला होगा। किन्तु संसारी मूढ़जन धर्मपूर्वक अर्थ काम का सेवन न करके अधर्मपूर्वक अन्याय और स्वच्छन्दतापूर्वक इनका सेवन करते हैं। क्यों करते हैं? इसलिये कि अन्याय अधर्मपूर्वक अर्थ काम सेवन में आरंभ में सरलता होती है, वह विपुल मात्रा में प्राप्त हो जाता है, उसमें विधिविधान का नियम अनुष्ठान का बन्धन नहीं। निर्मुक्तभाव से बिना संयम नियम के यथेष्ट मिल जाता है। किन्तु उसका अन्त मे परिणाम दुखद होता है परलोक में उससे नरकादि पाप लोकों की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत जो धर्मपूर्वक काम और अर्थ का सेवन करते हैं, उसमें आरभ में कठिनाइयाँ होती हैं, वह संयत मात्रा में प्राप्त होता है उसमें विधि-विधानो का पालन करना पड़ता है जीवन को संयम और सदाचारमय रखना पड़ता है। कठोर अनुष्ठानो के द्वारा पवित्रतापूर्वक प्राप्त होते हैं। सुख तो उसमें मिलता है किन्तु उसमें यथेच्छाचार, निर्मुक्तता, स्वच्छन्दता नहीं रहती किन्तु उसका परिणाम सुखद होता है और परलोक में स्वर्गादि पुण्यलोकों की प्राप्ति होती है, किन्तु जो स्वेच्छाचारी हैं, निर्मुक्तभाव से बिना सत्य धर्म का पालन किये अर्थ धर्म का सरलता से सुखोपभोग करना चाहते हैं, वे मन को समझा लेते हैं, "इस लोक में जैसे बने तैसे सुख लूट लो। परलोक किसने देखा है। अब तो सुख भोग लो, आगे जो होगा देखा जायगा।"

ये भाव उनके केवल मन को धोखा देने को ही हैं, किन्तु उनके मन में तो परलोक का चोर बैठा ही रहता है, पाप का खटका उन्हें लगा ही रहता है अतः सुखभोग करते हुए भी वे मन से दुखी ही बने रहते हैं। और धर्मपूर्वक संयत मात्रा में

विधिपूर्वक थोड़ा भी सुख का अनुभव करने वाले धार्मिक पुरुष को सन्तोष बना रहता है, कि मैं किसी को क्लेश पहुँचा कर, अन्याय अधर्म से अर्थ कामसुख का उपभोग नहीं कर रहा हूँ। इसी सन्तोष के कारण वे सुख का उपभोग करते हुए सन्तुष्ट तथा प्रफुल्लित रहते हैं। वास्तव में सन्तोष ही परमधन है। आत्मतुष्टि ही परमसुख है। धर्मभाव से शास्त्रोक्त विधि से–विधिविधान और वेद मन्त्रों द्वारा श्री की प्राप्ति कैसे हो सकती है, इसका वैदिक विधान बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ज्ञानमार्ग का परिणाम सनातन लोक की प्राप्ति बता दिया। कर्ममार्ग का परिणाम आवागमन-शील लोकों की प्राप्ति बताया। ज्ञानमार्ग के लिये वाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। विचार, विवेक, वैराग्यादि सद्गुणों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। कर्म तो वाह्य उपकरणों के अधीन हैं। दैवधन, मानुषधन, न हों तो कर्म कैसे हो सकते हैं। द्रव्य के ही अधीन समस्त कर्म हैं। धन न होगा, तो शुभकर्म कैसे होंगे? धन दो प्रकार से प्राप्त होता है. धर्मपूर्वक और अधर्मपूर्वक। धर्म-पूर्वक तो यह कि दूसरों को बिना क्लेश संताप पहुँचाये हुए, खल स्वभाव के जो धनिक हैं उनके सम्मुख दीनता से बिना गिड-गिडाये तथा अपनी आत्मा को अन्याय कार्यों द्वारा बिना क्लेश पहुँचाये जो धन प्राप्त हो वह धर्मोपार्जित धन है। और अन्य प्राणियों को दुःख देकर अन्याय से धन एकत्रित करना, नीच प्रकृति के कृपण क्रूर धानिकों के समीप दीनता दिखाकर अथवा साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा उनसे धन लेकर तथा पाप, अधर्म, अन्याय, हिंसा, चोरी आदि आत्मा के प्रतिकूल कर्म करके धन एकत्रित करना यह अधर्मोपार्जित धन है। अधर्मोपार्जित धन से कभी भी धर्म कार्य नहीं हो सकते। अधर्मोपार्जित धन सदा

अधर्म के कार्यों में ही व्यय होगा जो धन धर्म के द्वारा प्राप्त किया हुआ होगा वही धर्म कार्यों में लगेगा। ब्राह्मण को धर्मात्मा पुरुषों से याचना करके धन प्राप्त करना निषेध नहीं। किन्तु धनी धार्मिक मिलते कहाँ हैं। धनिकों के पास जो विपुल धन होता है उसमें अधिकांश भाग अधर्मोपार्जित ही होता है। जो धर्मपूर्वक कार्य करते हैं उनके पास धन एकत्रित नहीं हो सकता। हाँ उनका कार्य चल सकता है। इस विषय में लोपामुद्रा और अगस्त मुनि की कथा बड़ी ही शिक्षाप्रद है।

अपनी पत्नी लोपामुद्रा की बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण करने की इच्छा से अगस्त मुनि उसके निमित्त कई धर्मात्मा राजाओं के निकट धन की याचना करने गये। उनसे यही कहा—"धर्मपूर्वक अर्जित धन से जो तुम्हारे पास बचा धन हो वह मुझे स्त्री के वस्त्राभूषणों के लिये दे दो।" धर्मात्मा राजाओं ने अपने आय व्यय का लेखा दिखाया। जितनी धर्मपूर्वक आय थी, उतना ही उनका व्यय था। मुनि ने उनसे धन लेना उचित न समझा। लोगों ने बताया असुर राजा वातापी सबसे बड़ा धनी है, उसके पास जाओ। अगस्त जी धन याचना के लिये उसके पास गये। वह बड़ी प्रसन्नता से जितना चाहें उतना धन ऋषि को देने को सहर्ष उद्यत हो गया। ऋषि ने उसका आय व्यय देखा, तो उसका समस्त धन अन्यायोपार्जित था। ऋषि उससे कुछ भी न लेकर स्त्री के पास खाली हाथों लौट आये और बोले—"देवि! धर्मात्माओं के समीप धन का संग्रह नहीं और जिनके पास विपुल धन संग्रहीत है, उनका धन अन्यायोपार्जित है। अन्यायोपार्जित धन द्वारा बहुमूल्य आभूषण पहिनने की अपेक्षा बिना आभूषणों के ही जीवन बिताना श्रेयस्कर है।"

अच्छा, जब शुभ कर्म धन द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। और

धनिकों के पास प्रायः अन्यायोपार्जित ही धन होता है, तो धन प्राप्त कैसे करे ? यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर भगवती श्रुति देती है, कि जिसे यह इच्छा हो, कि मैं सभी पुरुषों में भाग्यवान् ऐश्वर्यवान् धनवान् बनूँ और अन्याय द्वारा भी धनोपार्जन न करूँ, उसे दैवबल का आश्रय लेना चाहिये, वैदिक विधि से श्रीमन्थ तैयार करना चाहिये। उस श्रीमन्थ के पान करने से लक्ष्मी अपने आप आ जायगी। लक्ष्मी के आने से अपने आप महत्त्व बढ़ जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! हमारे आश्रम में दश सहस्र से भी अधिक साधक हैं। यज्ञयागादि कर्मों के लिये हमें भी नित्य धन की आवश्यकता पड़ती ही है। किसी से धन की याचना करने में बड़ा सकोच होता है, अतः उस श्रीमन्थ के बनाने की विधि हमें भी बता दीजिये, जिससे हमें किसी से धन की याचना करनी न पड़े।"

यह सुनकर सूतजी बहुत हँसे और हँसते हुए बोले—"ब्रह्मन्! आपकी तपस्या ही परमधन है। आपका सदाचार ही परमनिधि है। आपको किसी से याचना की आवश्यकता ही क्या है। आपके तप का ही ऐसा प्रभाव है, कि आपकी इच्छा होते ही सभी पदार्थ बिना माँगे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। श्रीमन्थ तो उन लोगों के लिये है जिनमें तपस्या का विशेष बल नहीं है। तो भी प्रसंगानुसार भगवती श्रुति ने जैसे मन्थ तैयार करने की विधि बतायी है, उसे ही आपके सम्मुख कहता हूँ।

यह श्रीमन्थ सब महीनों में तैयार नहीं होता। जब सूर्य उत्तरायण के हो जायँ, तब माघ की मकरसंक्रान्ति से लेकर आषाढ़ की संक्रान्ति तक माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ और आषाढ़ इन्हीं महीनों में श्रीमन्थ तैयार होता है। जब सूर्य

उत्तरायण के हो जायँ तब इनमें से किसी भी शुभ मास के शुक्ल-पक्ष में पुण्य तिथि तथा शुभ वार तथा पवित्र नक्षत्र में श्रीमन्थ का तैयार करना चाहिये। उस शुभ तिथि पुण्य वार तथा शुभ नक्षत्रों में जो पुरुष संज्ञक नक्षत्र हों जैसे मूल, श्रवणादि नक्षत्र हैं। उन्हीं में इस श्रीमन्थ को बनावे।

पहिले बारह दिनों तक उपसद्व्रती रहे।"

शौनकजी ने पूछा—"उपसद्व्रती का क्या भाव है ?"

सूतजी ने कहा—'ब्रह्मन्! जो ज्योतिष्टोम यज्ञ होता है, उसमें तीन इष्टियों का नाम उपसद है। १-गार्हपत्य, २-दक्षिणाग्नि, ३-आहवनीयाग्नि ये तो तीन मुख्य अग्नियाँ प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त तीन उपसद् अग्नियाँ कहलाती हैं। इन अग्नियों में जब हवन करना होता है, तो यजमान को केवल दुग्धपान करके रहना पड़ता है। यहाँ उपसद्व्रती का इतना ही अर्थ है कि बारह दिन केवल दूध पीकर ही रहे।

बारह दिन के पश्चात् शुभ मुहूर्त में श्रीमंथन कर्म को करे। पहिले गूलर की लकड़ी से एक गोलाकार कंस–कटोरा–बनवावे, गोलाकार न बन सके तो जैसे यज्ञों में चमसपात्र (चमचा के आकार का पात्र) होता है उसी आकार का बड़ा बना ले। सभी चमसपात्र प्रायः दश अंगुल लम्बे, चार अंगुल चौड़े, चार अंगुल गहरे। दो अंगुल उनका दंड-दल और छः अंगुल ऊँचे होते हैं। इस प्रकार के पात्र को ब्रीहि, जौ, तिल, धान्यादि दश औषधियों को तथा तुलसीमंजरी, चम्पापुष्प, जटामांसी, नागरमोथा, शिलाजीत, कूट, हल्दी, सौंठ आदि सभी औषधियों से जो भी मिल सकें उन सभी औषधियों को उस ऋतु में जो भी आम, अंगूर, अनार, अमरूद, आँवले आदि फल मिल सकें उन फलों को तथा यज्ञ सम्बन्धी कुशा, समिधा, घृत आदि जो भी आव-

श्यक सामग्रियाँ हों उन सबको एकत्रित करके अपने समीप रख ले।

फिर हवन करने के लिये एक वेदी बनाये। वेदी ऐसी सुन्दर पवित्र मृत्तिका की बनावे जिसमें कंकण, पत्थर, केश, कीट, भूसी आदि न हों। चिकनी सुन्दर शुद्ध मिट्टी से चार अंगुल ऊँची और एक हाथ लम्बी चतुष्कोण वेदी हो। वेदी बनाते समय वेदी बनाने के पृथ्वी प्रशंसा सम्बन्धी मन्त्र को बोलता जाय।‡

जब सुन्दर शुद्ध मृत्तिका की चतुष्कोण वेदी बन जाय तो उसके सम्मुख कुशा का सुन्दर आसन बिछाकर पूर्व की ओर मुंह करके बैठ जाय। आसन पर बैठकर सबसे पहिले वेदी पर पञ्च भू संस्कार करें। पंच भू संस्कारों में १–पहिला संस्कार तो यह है कि तीन दर्भ कुशाओं को लेकर वेदी को बुहारे। फिर-जिन कुशाओं से वेदी बुहारी गयी है उन कुशाओं को ईशान कोण दिशा में फेंक दे। २–दूसरा संस्कार यह है कि गोबर और शुद्ध जल से वेदी को लीप दे। ३–तीसरा संस्कार यह है कि स्रुवा के अग्रभाग से–मूल से–पूर्व की ओर उत्तरोत्तर क्रम से प्रादेशमात्र परिमाण की तीन रेखायें खींचें। ४–चौथा संस्कार यह है कि अनामिका और अँगूठा से उन तीनों लकीरों में से तनिक तनिक सी मृत्तिका उठाकर पूर्व दिशा की ओर फेंक दे। ५–पाँचवाँ संस्कार यह है कि वेदी पर पुनः जल छिड़क दे। इस प्रकार पञ्चभू संस्कार करके वेदी को शुद्ध करे।❀ इस भू संस्कार को

---

‡ ॐ भूरसि भूमिरस्य दितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवी यच्छ पृथिवी दृंह पृथिवीं मां हिंसी।

❀ १—भूमिं कुशैः परिसमुह्य तान् कुशानैशान्यां परित्यजेत्।
२—गोमयोदकेनोपलेपनं कुर्यात्।

परिसमूहन संस्कार भी कहते हैं। ये क्यों किये जाते हैं? इसलिये कि कृमि, कीट, पतङ्गादि पृथ्वी पर विचरण किया करते हैं, इसलिये इन सब जीवों की रक्षा के हेतु वेदी को कुशों से स्वच्छ करने आदि को परिसमूहन किया जाता है।॥

इस प्रकार वेदी का परिसमूहन, परिलेपन उल्लेखन समुद्ध और अभ्युक्षण इन पाँचों कर्मों को करे। परिसमूहन तो कीटों की रक्षा के लिये करते हैं। परिलेपन इसलिये करते हैं कि पहिले इन्द्र ने अपने वज्र से महासुर वृत्त को मारा था, उसकी मेदा से भूमि व्याप्त हो गयी इसलिये पृथ्वी की शुद्धि गोबर से लीपने से होती है।❋ वेदी पर नीचे कहीं हड्डी कंटक न हो इसलिये परिलेखन करते हैं।† अंतरिक्ष में बहुत से पिशाच आदि घूमते हैं उन सबों को भगाने के लिये समुद्ध (मिट्टी) फेंकना कर्म है।‡ अब पांचवाँ कर्म फिर से उसे जल सींचकर अभ्युक्षण कर्म क्यों किया जाता है? इसके सम्बन्ध में कहते हैं जितने भी देवगण तथा पितृगण हैं वे सब के सब जल रूप ही हैं, इसलिये सब लोग जल से पुनः वेदी का अभ्युक्षण करते हैं। अभ्युक्षण कैसे करे? किस प्रकार वेदी पर जल छिड़के? इसे बताते हैं, कि जल से वेदी का सिंचन कुशा की उत्तान मुष्टि से करे।★

३—स्फ्येन स्रुवेण वा प्रागग्र प्रदेश मात्रमुत्तरोत्तर क्रमेणाभिल्लिखेत्।

४—उल्लेखन क्रमेण अनामिकाङ्गुष्ठाभ्यां मृदमुद्धरेत्।

५—तां भूमि जलेनाभि षिचेत्।

॥१ परिसमूहन—कृमि कीट पतङ्गाद्या विचरन्ति महीतले। तेषां रक्षणार्थाय परिसमूहनमुच्यते।

इस प्रकार पाँच भू संस्कार करके अग्निकोण से स्मार्त अग्नि को लाकर उसे अपनी दाहिना ओर रखकर 'ओंक्रव्यादमग्निम्'* आदि मन्त्र से कुशा प्रज्वलित करके उस कुशा को नैर्ऋत्य कोण में छोड़ दे। फिर वेदी पर 'ॐ अयन्ते ※ आदि मन्त्र से अग्नि की स्थापना करे। तदनन्तर वदी के चारों ओर कुशाओं को बिछावे, इस कम को कुशापरिस्तरणम् कहते हैं।

अग्नि वेदी के चारों ओर कुशाओं या परिस्तरण बिछाना कैसे करना चाहिये इसे बताते हैं। चारों ओर कुशा बिछाते समय इतना ध्यान रखे कि किसी भी ओर कुशाओं का मूल भाग दक्षिण की ओर न हो। वैसे बताया तो यह है कि वेदी के चारों ओर बहुत से तृण बिछावे। यहाँ बहुवचन से तीन तीन कुशाओं

ॐ २. परिलेपनम्—पुरा इन्द्रेण वज्रेण हतो वृत्रो महासुर। व्यापिता मेदसा पृथ्वी तदर्थमुपलेपयत्।

† ३. उल्लेखनम्—उल्लेखन तन कुर्यादस्थि कराटकमेव च। तेषा प्रहरणार्थाय उल्लेख कथितो बुधै।

‡ ४ समुद्ध—अङ्गुष्ठोपकनिष्ठाभ्या अग्निकार्ये तथोत्करे। रेखाभ्य समुपादाय रत्निमात्रे निधापयेत्। ये भ्रमन्ति पिशाचाद्या अन्तरिक्ष निवासिन। तेषा प्रहरणार्थाय समुद्ध· कथिता बुधै।

✱ ५ अभ्युक्षणम्—प्राणो देवगणा· सर्वे आप पितृगणा स्मृताः। सव सदाप आदाय अभ्युक्षन्ति पुन पुन अभ्युक्षण वर्तव्यमुत्ताने नैव मुष्टिना।

• कुशाप्रज्वलन मन्त्र—ॐ क्रव्यादग्निं प्रहिणोमि दूर यमराज्य गच्छतु रिप्रवाह। इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्य वहतु प्रजानन्।

※ अग्निस्थापन मन्त्र—ॐ अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा। त जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम्।

को ही बिछाने की प्राचीन परिपाटी है। अतः वेदी के ओर तीन-तीन कुशाओं को बिछावे।

पहिले वेदी की पूर्व दिशा मे उत्तर की ओर कुशाओं अग्रभाग करके 'ॐ अग्नि मी ले'[१] इति मन्त्र से पूर्व दिश तीन कुशाओ को बिछावे। फिर 'ॐ इषेत्वोर्जे'[२] इति मन्त्र वेदी के दक्षिण में पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं बिछावे। फिर 'ॐ अग्न आयहि'[३] इति मन्त्र से वेदी के परि में उत्तर को ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को बिछावे। इ प्रकार फिर 'ॐ शन्नोदेवीरभिष्टय'[४] इति मन्त्र से वेदी के उत्तर पूर्व की ओर अग्रभाग करके तीन कुशाओं को बिछावे। प्रका प्रकार वेदी के चारों ओर कुशाओं का परिस्तरण करे। यह कुश परिस्तरण हुआ। इसके अनन्तर अग्नि को 'ॐ चत्वा शृङ्गा'[५] इस मन्त्र द्वारा प्रज्वलित करे।

---

१. पूर्व की ओर का मन्त्र—ॐ अग्निमीले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजः होतार रत्न धातमम्।

२ दक्षिण की ओर का मन्त्र—ॐ इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्य देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागम्प्र-जावती रनमीवा अयक्ष्मा मावस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यातबह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।

३ पश्चिम की ओर का मन्त्र—ॐ अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्य-दातये। निहोता सत्सि बर्हिषि।

४. उत्तर को ओर का मन्त्र—ॐ शन्नोदेवीरभिष्टय आपोभवन्तु पीतये। श योरभिस्रवन्तु नः।

५. अग्नि प्रज्वलित करने का मन्त्र—ॐ चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्यपादा द्वेशीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यां आविवेश।

अग्नि के प्रज्वलित हो जाने पर उसका ध्यान पूजनादि करके गृह्योक्त विधि से आज्यस्थाली में रखे हुए घृत का संस्कार करे। घृत को तपाकर उसे देख ले कि उसमें कूड़ा करकट तो नहीं है। कूड़ा आदि हो तो उसे निकाल कर फेंक दे। घृत को तपाकर देखने आदि के कर्म का उत्पवन संस्कार कहते हैं।

इतना सब करके अब श्रीमन्थ कर्म करे। यह श्रीमन्थ कर्म पुरुष संज्ञक नक्षत्र में करे।"

शौनकजी ने पूछा- 'सूतजी ! हमने तो सुना है, ये अश्विनी, भरणी, कृत्तिकादि सत्ताईस नक्षत्र चन्द्रमा की स्त्रियाँ हैं, फिर इनमें पुल्लिङ्ग नक्षत्र कैसे हो सकते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् स्त्रीत्व पुंस्त्व शरीर से नहीं हुआ करता, यहाँ स्त्रीत्व पुंस्त्व स्वभाव से प्रयोजन है। बहुत-से पुरुष स्त्री स्वभाव के होते हैं, बहुत सी स्त्रियाँ स्त्री होकर पुरुष स्वभाव की होती हैं। जहाँ यह प्रार्थना की है—'मुझे स्त्रीत्व प्राप्त न हो" वहाँ स्त्री योनि से सम्बन्ध न होकर स्त्री स्वभाव से अभिप्राय है। ज्योतिष ग्रन्थों में २७ नक्षत्रों में से १० नक्षत्र स्त्री संज्ञक, १४ पुरुष संज्ञक और शेष तीन नपुंसक संज्ञक माने गये हैं। आर्द्रा नक्षत्र से लेकर स्वाति पर्यन्त दश तो स्त्री संज्ञक (अर्थात् आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, श्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा और स्वाति ये स्त्री संज्ञक हैं) और मूल से लेकर मृगशिरा पर्यन्त चौदह पुरुष संज्ञक (अर्थात् मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्र पद, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा ये नक्षत्र पुरुषसंज्ञक हैं) शेष तीन (विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा) नपुंसक संज्ञक हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"मन्थ को तैयार कैसे करे ?"

आज्यस्थाली, चरुस्थाली, स्रुवा, आदि यज्ञ सम्बन्धी पात्र, समार्जन, उपयमन (कुशा) तथा तान समिधाओं को रखकर पवित्र प्रोक्षणी के जल से सबका प्रोक्षण करे। प्रज्वलित अग्नि में तपे हुए घृत से हवन करे। पहिला आहुति तो 'यावन्तो'[1] इत्यादि मन्त्र से दे। इस मन्त्र का भाव यह है–हे जातवेद !–हे स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् अग्निदेव !–आपके वशवर्ती वक्रमति जितने *कुटिल देवगण हैं, जो पुरुषों की समस्त कामनाओं को नष्ट कर देते* हैं–उनके शुभकर्मों मे प्रतिबन्धक हैं, उनके ही उद्देश्य से इस आज्यभाग–घृत की आहुति–को तुममें हवन करता हूँ। इस आहुति से वे देवगण तृप्त होकर मुझको मेरी समस्त कामनाओं से परितृप्त करें। (स्वाहा कहकर हवन करें।)

पहिली आहुति देकर यातिरश्ची[2] इत्यादि मन्त्र स दूसरी आहुति दें। इस दूसरी आहुति के मन्त्र का तात्पर्य यह है—मैं सबकी मृत्यु को धारण करने वाला हूँ। ऐसा समझकर जो भी कुटिलमति देवता तुम्हारा आश्रय करके रहता है, सभी साधनों का पूर्ति करने वाले उस देवता के निमित्त मैं घृत की धारा से यजन करता हूँ। (स्वाहा कहकर दूसरी आहुति दे)।

इस प्रकार दो आहुतियाँ देकर फिर सात आहुतियों को और दे। वे सात आहुतियाँ ये हैं १ ज्येष्ठ के लिये श्रेष्ठ के लिये, २–प्राण के लिये वसिष्ठ के लिये, ३–वाचा के लिये प्रतिष्ठा के

---

१ पहिली आहुति का मन्त्र—यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा ।

२ दूसरी आहुति का मन्त्र—यातिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति तां त्वा घृतस्य धारया यजे सं राधनीमहं स्वाहा ।

लिये, ४–चक्षु के लिये सम्पदा के लिये, ५–श्रोत्र के लिये आयतन के लिये, ६–मन के लिये प्रजापति के लिये, ७–रेतस् के लिये। इनके लिये इन्हीं के नाम के मन्त्रों से स्वाहा कहकर तो अग्नि में आहुति दे और प्रत्येक आहुति देने के अनन्तर गूलर के काष्ठ के बने स्रुवा में जो हवन के अनन्तर कुछ बचे-हुए शेष-घृत को मन्थ से भरे पात्र में डालता जाय। उसे सस्रव कहते हैं। इस प्रकार सात आहुतियाँ दे। यद्यपि इसमें स्वाहा शब्द तो तेरह बार आया है, किन्तु छः बार जो दो दो स्वाहा है उन्हें एक ही आहुति मानकर सात ही आहुतियाँ माने* इसके अनन्तर इसी प्रकार १–अग्नि, २–सोम, ३–भूः, ४–भुवः,५–स्वः, ६–भूर्भुवः स्वः, ७–ब्रह्म, ८–क्षत्र, ९–भूत, १०–भविष्य, ११–विश्व, १२–सर्व, १३–प्रजापति, इनको चतुर्थी लगाकर और अन्त में स्वाहा का उच्चारण करके तेरह आहुतियाँ घृत को और दे और जो स्रुवा में हुतशेष जो घृत बच जाय उसे मन्थ में छोड़ता जाय। इस प्रकार तेरह ! दो, सात और तेरह⊕ आहुतियाँ देकर हवन को समाप्त करे।

---

* सात आहुतियों के मन्त्र— १. ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहा।
२. प्राणाय स्वाहा वसिष्ठाय स्वाहा।
३. वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा।
४. चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा।
५. श्रोत्राय स्वाहा यतनाय स्वाहा।
६. मनसे स्वाहा प्रजापत्यै स्वाहा।
७. रेतसे स्वाहा।

⊕ तेरह आहुतियों के मन्त्र— १. अग्नये स्वाहा।,
२. सोमाय स्वाहा।

तदनन्तर उस मंत्र मिश्रित द्रव्य को भ्रमदसि* इत्यादि मन्त्र से अभिमर्श-स्पर्श-करे। यह जो श्रीमन्थ तैयार हुआ है इसका अधिष्ठातृदेव प्राण है। प्राणोपासना के प्रकरण में ही यह श्रीमथ कर्म और श्रामन्थ बनाने की विधि बतायी गयी है। अतः भ्रम-दसि मन्त्र में प्राण की ही प्रार्थना है। उसका भाव इस प्रकार है। हे प्राणदेव! तुम सब शरीरों में भ्रमण करने वाले हो, तुम ही अग्नि रूप से-सभी स्थानों में प्रज्वलित होने वाले हो। तुम परब्रह्म रूप से सर्वत्र परिपूर्ण हो। आकाश रूप से सर्वत्र निष्कम्प-स्तब्ध-रहने वाले हो। आप सबसे अविरोधी होने के कारण इस जगत् रूप सभा के सभापति हो। यज्ञ के आरम्भ में

---

३ भूः स्वाहा।
४. भुवः स्वाहा।
५. स्वः स्वाहा।
६ भूर्भुवः स्वः स्वाहा।
७ ब्रह्मणे स्वाहा।
८. क्षत्राय स्वाहा।
९. भूताय स्वाहा।
१० भविष्ये स्वाहा।
११. विश्वाय स्वाहा।
१२ सर्वाय स्वाहा।
१३. प्रजापतये स्वाहा।

* भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिङ्कृतमसि हिङ्क्रियमाणमस्युद्गीथ मस्युद्गीयमानसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावित-मस्यार्द्रे सदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥

जो प्रस्तोता हिङ्कृत करता है वह हिङ्कृत आप ही हो। यज्ञ में प्रस्तोता द्वारा जो हिङ्क्रियमाण है वह भी आप ही हो। यज्ञ के आरम्भ में जो सामवेद का उद्गाता उच्च स्वर से उद्गीथ का गायन करता है, वह उद्गीथ भी तुम ही हो। यज्ञ के मध्य में उद्गाता द्वारा जो उद्गायमान है वह उद्गीयमान भी आप ही हो। यज्ञों में जो अध्वर्यु 'श्रावित' उच्चारण करता है वह श्रावित आप ही हो। आग्नीध्र जो 'प्रत्याश्रावित' उच्चारण करता है वह प्रत्याश्रावित भी आप ही हो। आर्द्र गीला-जो मेघ है उसमें जो सदीप्त-तेज-है वह भी आप ही हो। तुम अनेक रूपों में होने वाले विभु हो। तुम सर्वसमर्थ होने के कारण प्रभु हो, तुम ही अग्नि रूप से भक्षण करने वाली ज्योति हो। कारण रूप में सबकी प्रलय करने वाले निधन भी आप ही हो। और समस्त संसार का संहार करने वाले संवर्ग भी आप ही हो।" इस प्रकार उस श्रीमन्थ का इस श्लोक को पढते हुए भली प्रकार स्पर्श करे। स्पर्श करके फिर उसे हाथ से 'आमँस्यामँ हि'* इत्यादि मन्त्र से ऊपर उठावे। उठाने वाले मन्त्र का भाव यह है—"हे प्राणदेव! तुम सब जानते हो। मैं भी तुम्हारी महिमा को भला भाँति जानता हूँ। तुम जो वह मन्थभूत प्राण हो, वह दीप्तिमान् राजा हो, सबके शासन कर्ता ईशान हो। सबके अधिपति हो। ऐसे जो वह आप हैं वे मुझे भी राजा ईशान और अधिपति बनावें। यही मेरी विनय है। अब सब प्रकार से श्रीमन्थ तैयार हो गया। हाथ में ऊपर उठा लिया। अब इसे भक्षण कैसे और किन मन्त्रों से करना चाहिये। इस बात को बताते हैं।

मथेनमुद्यच्छति।

* आमँस्यामँस्यामँ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माँ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति।

गूलर के पात्र में जो मन्थ रखा हुआ है। उसके चार भाग कर ले। पहिले भाग को लेकर गायत्री मन्त्र का प्रथम पाद, मधुमती ऋचा का एक पाद पहिली व्याहृति में स्वाहा लगाकर प्रथम ग्रास को भक्षण कर जाय।+ तदनन्तर इसी भाँति गायत्री मन्त्र के द्वितीय पाद को, मधुमती ऋचा के द्वितीय पाद को तथा दूसरी व्याहृति में स्वाहा लगाकर मन्थ का दूसरा ग्रास भक्षण कर जाय।ꕥ

इसी भाँति गायत्रीमन्त्र के तृतीयपाद को, मधुमती ऋचा के तृतीयपाद को और तीसरी व्याहृति को स्वाहा सहित पढ़कर मन्थ के तीसरे ग्रास को भक्षण कर जाय।☒ अब रह गया शेष चतुर्थ ग्रास, उसे समस्त गायत्रीमन्त्र को, समस्त मधुमती ऋचा को अहमेवेदं इत्यादि श्रुति को तथा तीनों व्याहृतियों के सहित स्वाहा को क्रम से पढ़कर शेष बचे खुचे चौथे भाग को भी भक्षण कर जाय।* और पात्र को भी जल से धोकर उसे पी जाय।

पूरे श्रीमन्थ को भक्षण करने के अनन्तर दोनों हाथों को भली प्रकार धोले, फिर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर शिर करके बैठे। इस प्रकार बैठे-बैठे ही अथवा सोकर जब प्रातःकाल हो जाय, तब नित्य कर्म से निवृत्त होकर "दिशामेक

+ प्रथम ग्रास भक्षण मन्त्र—तत्सवितुर्वरेण्यम्। मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः भू स्वाहा।

ꕥ द्वितीय ग्रास भक्षण मन्त्र—भर्गोदेवस्य धीमहि। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तुनः पिता भुवः स्वाहा।

☒ तृतीय ग्रास भक्षण मन्त्र—धियोयोनः प्रचोदयात्। मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमां अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावोभवन्तु नः। स्वः स्वाहा।

* चतुर्थ ग्रास भक्षण मन्त्र—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्। मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः

पुण्डरीकम्" इत्यादि मन्त्र से आदित्य का उपस्थान करे। ❀ फिर जिस मार्ग से गया था, उसी मार्ग से लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर श्रीमन्थ के वंश का जप करे। उपस्थान के मन्त्र का भाव यह है कि 'हे आदित्य! तुम जिस प्रकार समस्त दिशाओं के एक पुण्डरीक उज्वल कमल हो, उसी प्रकार मैं भी मनुष्यों में एक ही पुण्डरीक–अखण्ड–श्रेष्ठ उज्वल कमल हो जाऊँ।'

जिस ब्राह्मण वंश–मन्थ कर्म वंश–❀ का जप करने को कहा है–उन ६ ऋचाओं का भाव यह है कि इस मन्थ का उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया, वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को, मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को, चूल भागवित्ति ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण को, जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को और सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को उपदेश किया था। सभी ने उपदेश करने के अन्त में अपने शिष्यों से एक ही बात बार-बार दुहरायी थी कि इस मन्थ को यदि कोई सूखे ठूँठ पर भी डाल देगा, तो उसमें शाखायें उत्पन्न हो जायँगी और हरे हरे पत्ते निकल आवेंगे। ऐसा इस श्रीमन्थ का महन्महात्म्य है। इस मन्थ कर्म ब्राह्मण

सन्त्वोषधीः। मधुनक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाꣳ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः। अहमेवेदं सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहा।

❀ आदित्य के उपस्थान का मन्त्र—

दिशामेक पुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेक पुण्डरीकं भूयासम्।

वंश के ६ मन्त्र हैं। ❀ इनको नीचे देते हैं। श्रुति की आज्ञा है जो अपना पुत्र या शिष्य न हो उसे इस मन्थ का उपदेश न दे।

इस प्रकार यह श्रीमन्थ और उसके बनाने की विधि वाला प्रकरण समाप्त हो गया। उपसंहार या सिंहावलोकन के रूप में मन्थ कर्म की मुख्य मुख्य आवश्यक सामग्रियों के सम्बन्ध में फिर से बताये देते हैं कि मन्थकर्म में ये सामग्रियाँ तो परमावश्यक ही हैं।

❀ १ मन्थकर्म ब्राह्मण यथा— त ँ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसने याय याज्ञवल्क्यायान्ते वासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति।

२ एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्ते वासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति।

३. एतमु हैव मधुक पैङ्ग्यश्चूडाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखा प्ररोहेयुः पलाशानीति।

४ एतमु हैव चूडो भागवित्तिर्जानकि य आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीनि।

५ एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयु पलाशानीति।

६. एतमुहैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एन ँ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्शाखाः प्ररोहेयु पलाशानीति॥

"तमेत नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्"

पहिले तो मन्थ कर्म में चार पात्रादि वस्तुएँ परमावश्यक हैं वे चारों ही गूलर की लकड़ी के बने होने चाहिये। वे पात्र कौन-कौन से हैं ?

(१) स्रुव—एक हाथ लम्बा और हाथ के अग्रभाग सदृश आगे हो, उसके अग्रभाग में दो अँगूठे के समान परिमण्डल और नासिका के सदृश गड्ढा होना चाहिये।

(२) चमस—बारह अगुल लम्बा, दण्ड चार अंगुल, कंधा तीन अंगुल, चौड़ा चार अंगुल।

(३) इध्म तीन समिधायें-अँगूठे के सदृश मोटी और घुन कीट से रहित एक या तो वितरिन लम्बी।

(४) दो उपमन्थनी मंथ को मथने को गूलर की ही बनी बारह-बारह अंगुल की हों।

सर्वौषध फलादि से मन्थ बनता है। सर्वौषध में सौ के लगभग औषधियाँ हैं। उनमें दश मुख्य हैं। वे दश तो होनी ही चाहिये और जितनी भी औषधियाँ तथा ऋतु फल मिल जायँ, उन्हें पीसकर उनका पिंड बनाना चाहिये और उस पिंड में उतना ही मधु घृत से युक्त गौ का दही मिलाना चाहिये। वे मुख्य दश औषधि कौन-कौन-सी हैं ?

(१) व्रीहि—साठी के धान।
(२) यव—जौ तो प्रसिद्ध ही हैं।
(३) तिल—जिनसे तैल निकलता है, काले प्रशस्त हैं।
(४) माष—उड़द, जिनकी दाल बनती है।
(५) अणु—सावाँ के धान्य।
(६) प्रियंगु—कांगुनी, जिसे कँगुनी या टँगुनी भी कहते हैं।
(७) गोधूम—गेहूँ।
(८) मसूर—मसूर की दाल बनती है।

(९) खल्व—निष्पाव-अथवा भटवांस।
(१०) खलकुल—कुरथी या खुरती।
ये दश ग्राम्य अन्न महौषध कहे गये हैं। ये तो मन्थ की सामग्री हैं और हवन के लिये गौ का घृत पृथक् रखे।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने ऐश्वर्य, धन, समृद्धि को बढ़ाने वाले श्रीमन्थ और उसके बनाने की विधि का वर्णन किया। यह तो धनार्थी को धन प्राप्त करने का उपाय है, जिनको पुत्रैषणा है, उन्हें उत्तम से उत्तम धर्मात्मा तेजस्वी पुत्र कैसे प्राप्त हों, इसकी वैदिक विधि आगे बतायी जायगी। मुनियो! आप लोग तो बाल ब्रह्मचारी हैं, आप तो सभी संसारी इच्छाओं से रहित हैं, किन्तु सभी पुरुषों को पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणायें होती हैं। अतः आगे सद्गुण सम्पन्न सुन्दर सुघड़ सदाचारी पुत्र किस विधि से किन किन मन्त्रों के कहाँ कहाँ प्रयोग करने पर प्राप्त होता है उसकी साङ्गोपाङ्ग विधि जैसे भगवती श्रुति ने बतायी है, उसे मैं आगे यथामति कहूँगा। कुछ लोग इसे अश्लील प्रकरण भी कह सकते हैं, किन्तु यह उनकी मूर्खता ही होगी।"

छप्पय

(१)

घृत आहुति द्वै देइ सात तैं हवन करै पुनि।
तेरह आहुति देइ शेषहुत घृत मन्थहिँ मुनि!
आहुति तैं घृत बचै मन्थ में डारत जावै।
करि मन्त्रहिँ तैं परस मन्त्र तैं ताहि उठावै॥
चारि भाग ताके करै, मन्त्रनि तैं क्रम क्रम भखै।
विधिवत् खावै सबहिँ कूँ, शेष नहीं तनिकहुँ रखै॥

(२)

खाइ धोइ के पीइ हाथ मुख विधिवत धोवै।
पच्छिम वदी माग पूर्व मुख करि पुनि सोवै॥
प्रातकाल उठि उपस्थान आदित्य करै नर।
ताहि मार्ग तैं लौटि बैठि पच्छिम इस्तुति करि॥
मन्थ वंश को पाठ करि, ऋचा पष्ठ श्रद्धा पढ़ै।
पावै धन ऐश्वर्य बहु, सब पुरुषनि आगे बढ़ै॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
तीसरा मन्थ ब्राह्मण समाप्त।

सद्गुण सन्तान के लिये पुत्र मन्थ की विधि

[२६७]

ऐषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामो-षधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥*

(बृ० उ० ६ प्र० ४ ब्रा० १ मन्त्र)

छप्पय

सुखद सौम्य सन्तान होइ विधि वेद बतावै ।
भूतनि सब भू सार सार जल तिहि कहलावै ॥
ओषधि जल को सार सार तिहि पुष्प कहाये ।
पुष्प सार फल तिनहिं सार ये पुरुष बताये ॥
पुरुष सार ही वीर्य है, तिहि पत्नी आधार है ।
मैथुन प्रानिनि परमप्रिय, किन्तु परम तिहि सार है ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने प्राणिमात्र के हृदय में पुत्रैषणा पैदा करके सृष्टि के प्रवाह को स्वतः ही धारा प्रवाह चलाने का क्रम बाँध

---

* प्रसिद्ध बात है, कि सभी भूतों का सार पृथ्वी है। पृथ्वी का सार जल है, जल का सार ओषधियाँ हैं। ओषधियों का सार पुष्प हैं। पुष्पों का सार फल हैं। फलों का सार पुरुष है, पुरुष का सार वीर्य है।

दिया है। यदि माता पिता के हृदय में सन्तान उत्पन्न करने की स्वाभाविकी रुचि, तथा उसके पालन-पोषण की अभिलाषा न होती, तो ससार मे आज एक भी प्राणी दिखायी न देता। सन्तान कैसी भी क्यों न हो माता उसका पालन करती ही है। सन्तान होती है मिथुन होने से। मिथुन होने की ब्रह्माजी ने नर नारियों की स्वाभाविकी प्रवृत्ति बना दी है। और लोग कहते हैं मिथुन होना ससार के सभी सुखों से सरस है, सुखद है तथा श्रेष्ठ है। इसे सिखाना नहीं पड़ता, प्राणियों की इसमें सहज ही प्रवृत्ति है। पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर सभी प्रकार के प्राणी मिथुन धर्म से ही उत्पन्न होते हैं। मनुष्य में और पशुओं में अन्तर इतना ही है, कि मनुष्य धर्मपूर्वक, संयम नियम पूर्वक, वेद शास्त्र की विधि से मैथुन करके सुयोग्य सन्तानों को उत्पन्न कर सकता है, जो स्वर्ग तथा मोक्ष तक प्राप्त कर सकते हैं और पशु, पक्षी तथा अज्ञानी स्वभाववश–प्राकृत प्रवृत्ति के अनुसार करते हैं जो चोरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं।

भगवती श्रुति माता के समान सभी विषय की शिक्षा देती है। धर्म कैसे करना चाहिये अर्थोपार्जन कैसे करना चाहिये, मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त क्या-क्या करना चाहिये तथा सन्तानोत्पत्ति वेद शास्त्रानुसार कैसे करनी चाहिये। कुछ अज्ञानी लोग कहते हैं कि मैथुनादि कर्मों में तो प्राणियों की स्वाभाविकी रुचि है, फिर ऐसे अश्लील प्रसंग का उपनिषदों में वर्णन क्यों किया गया? ससार में अच्छी बुरी वस्तु तो प्राणियों के व्यवहार पर निर्भर है। घृत अमृत के सदृश है, उसी को ताँबे के पात्र में रखकर खायँ, उत्राकात खाय, परिमाण से अधिक मात्रा में खाय तो विष का काम करता है। इसके विपरीत, अनेक संखिया आदि विषैली औषधियाँ हैं जिन्हें शोधकर युक्ति से

खायें तो अमृत का काम करती हैं। मौन, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, तपस्या, शास्त्र पठन, स्वधर्म पालन, शास्त्रों की व्याख्या, एकान्त-वास और समाधि ये साधन मुक्ति को देने वाले हैं, किन्तु अजि-तेन्द्रिय पुरुष इन्हें अपनी आजीविका का साधन बना लेते हैं और दम्भी लोग इनका आश्रय लेकर नाना प्रकार के पाप करते हैं। इसी प्रकार मैथुन का अधर्म पूर्वक, स्वेच्छाचार के रूप में सेवन करने से नरक में जाते हैं या संसार की नाना योनियों में वार-बार जन्मते और मरते रहते हैं। जो इसका सेवन धर्म पूर्वक, संयम सदाचार के साथ करते हैं वे स्वर्ग तथा मोक्ष तक को प्राप्त कर सकते हैं। अतः कृपामयी भगवती श्रुति स्वाभाविकी प्रवृत्ति को नियमन करने के निमित्त श्रेष्ठ सन्तान की प्राप्ति हेतु इस पुत्रैषणा पूरक प्रकरण को प्रारम्भ करती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! धन की इच्छा करने वालों के निमित्त शास्त्रीय विधि से श्रीमन्थकर्म की विधि का वर्णन तो हो चुका, अब सुयोग्य श्रेष्ठ विद्वान् सन्तान की इच्छा वाले पुरुषों के लिये 'पुत्रमन्थ' कर्म की विधि बताते हैं। इस पुत्रमन्थ कर्म में श्रीमन्थकर्म कर्ता प्राणदर्शी वेदज्ञ विद्वान् पुरुष का ही अधिकार है। अतः इस कर्म को सावधानी से सयमपूर्वक शास्त्रों की आज्ञानुसार ही करना चाहिये।

वेदों का अध्ययन करने के अनन्तर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। उसे समानशीला, सदाचारिणी, सद्-कुलोद्भवा अपने वर्ण की सुन्दरी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये। शास्त्रीय विधि से उसे अपनी धर्मपत्नी बना लेना चाहिये। उसी अपनी पाणिगृहीता, धर्मपूर्वक अपनायी धर्मपत्नी में इस पुत्रमन्थ क्रिया को करना चाहिये।

मनुष्य का सबसे बहुमूल्य सार शुक्र है। मनुष्य

स्वभावतः अविचारशील होते हैं, इस बहुमूल्य वस्तु का अप्राकृतिक और अस्वाभाविक रूप से दुरुपयोग न करें, इसी निमित्त गुरु का आयुर्वेदिक प्रक्रिया के लिये उन्होंने नारी की सृष्टि की और विवाहादि धार्मिक संस्कारों का विधान किया। और नर-नारियों के मिथुन होने का विधान किया। पारस्परिक अधोभाग सेवन की प्रेरणा उत्पन्न की। प्रजनेन्द्रिय का शास्त्रीय विधि से व्यवहार करना चाहिये। प्रजापति ने स्वयं अभ्यसृजन कर्म किया।

संसार में भाव की ही प्रधानता होती है। तपस्या, अध्ययन, वेदशास्त्र विधिपालन, तथा बलपूर्वक दूसरों से धन ग्रहण करना ये चारों कार्य पाप नहीं हैं, किन्तु दूषित भावना से किये जायँ, तो ये पाप हो सकते हैं। मिथुन होकर प्रजनन कर्म कोई पाप नहीं है, यदि शास्त्रीय विधि से यह कर्म किया जाय तो वाजपेय यज्ञ के सदृश फल देने वाला होता है। वाजपेय यज्ञ में (१) यज्ञवेदी, (२) कुशायें, (३) प्रज्वलित अग्नि, (४) अधिपवरण इनकी प्रधानता होती है, इनकी उपमा इस कर्म में भगवती श्रुति ने क्रमशः १—उपस्थ, रोम, योनिमध्य भाग और दोनों मुष्कों से दी है। जो विद्वान् पुरुष वाजपेय यज्ञ की इस तुलना को जानकर इस पुण्यप्रद सुखद पुत्रमन्थ कर्म में सम्यक् प्रकार से, शास्त्रीय विधि से, वेद मन्त्रों द्वारा प्रवृत्त होता है। तो जो लोक वाजपेय यज्ञ करने वाले यजमान को प्राप्त होते हैं, वे ही लोक इस वेदोक्त विधि से पुत्रमन्थ करने वाले पुरुष को प्राप्त होते हैं। अतः इस विधि से पुरुष को योषिताधोभाग की उपासना करनी चाहिये। इस विधि से कर्म करने पर पुरुष को स्त्री का भी पुण्य प्राप्त होता है, इसके विपरीत जो अशास्त्रीय विधि से अधर्म पूर्वक बलात् इस कर्म में प्रवृत्त होता है उस अज्ञानी पुरुष के पुण्य कर्मों को वे स्त्रियाँ अपहरण कर लेती हैं।

इस विषय में परम विद्वान् महर्षि अरुण के पुत्र आरुणि उद्दालक, मुद्गल पुत्र महर्षि नाक तथा कुमार हारीत महर्षि–इन तीनों विद्वान् ऋषियों ने इस पुत्रमन्थ कर्म को बाजपेय यज्ञ के सदृश महत्त्व सम्पन्न युक्त कर्म बताया। उनका कहना है कि जो निरन्द्रिय वीर्य रहित, सुकृतहीन मैथुन विज्ञान शून्य द्विजबन्धु पुरुष इस कर्म को बाजपेय यज्ञ के सदृश नहीं जानते, फिर भी इस कर्म में आसक्त होते हैं, वे इस लोक से बिना प्रयोजन सिद्ध किये ही चले जाते हैं ”

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस पुत्रमन्थ कर्म को बाजपेय यज्ञ के सदृश पुण्यप्रद बताकर अब वीर्य स्खलन के प्रायश्चित्त को बताते हैं।"

ऋतुकाल की प्रतीक्षा में दिवस में या रात्रि में किसी भी प्रकार न्यून वा अधिक शुक्रस्खलन हो जाय तो उसे कर से स्पर्श करके 'यन्मेऽद्यरेतः' ❀ इत्यादि मन्त्र से अभिमन्त्रित करे। इस मन्त्र का भावार्थ यह है, कि आज जो मेरा यह शुक्र स्खलित होकर पृथ्वी, ओषधियों अथवा जल में गिर गया है उसे मैं पुनः ग्रहण करता हूँ। उसे अनामिका अंगुष्ठ से उठाकर दोनों भौंहों के मध्य में अथवा दोनों स्तनों के मध्य में हृदय में मलते समय 'पुनर्मामैत्विन्द्रियं, इत्यादि मन्त्र को बार बार पढ़ता जाय और फिर तुरन्त स्नान करले। इस मन्त्र का भाव यह है "कि मुझे पुनः वीर्य तेज तथा भगादि ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। अग्नि देव मुझे पुनः

❀ यन्मेऽद्यरेत. पृथिवी मस्का-सीदोषधीरप्यसरद्यदप। इदमहं तद्रेत आ ददे।

* स्वप्नदोष हारक मन्त्र—"पुनर्मामैत्विन्द्रिय पुनस्तेज पुनर्भग। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथा स्थान कल्पन्ताम्।"

प्राप्त हो और नियत स्थान वाले देवगण पुनः मेरे शरीर में उस वीर्य को यथा स्थान में स्थापित कर दें।"

जल मे अपनी छाया देखना भी दोष बताया गया है, यदि किसी कारण से जल मे अपनी छाया दीख जाय तो 'मयितेज'[1] इत्यादि मन्त्र का जप करे। इससे जल में आत्मप्रतिबिम्ब दर्शन दोष छूट जाता है। इस मन्त्र का भावार्थ यह है—"मुझको तेज की, इन्द्रियों में शक्ति, यश, धन तथा पुण्य की प्राप्ति हो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार प्रसङ्गवश दोषों की निवृत्ति के निमित्त प्रायश्चित्त बताकर अब प्राकृत विषय पर आते हैं। पुत्रमन्थ के इच्छुक पुरुष को प्रथम आमन्त्रण कर्म करना चाहिये। आमंत्रण मंत्र जो 'इन्द्रियेण ते'[2] इत्यादि है उसका भाव यह है कि 'मैं यशरूप इन्द्रिय द्वारा तुझमें स्थापन करता हूँ।' आमन्त्रण रजोधर्म से विशुद्ध हुई भार्या का ही करे। स्त्रियों में जो रजोधर्म निवृत्त हो चुकी है वह गृहस्थी पुरुष की उत्कृष्ट शोभा है-श्री है।

यहाँ प्रसङ्ग वश एक बात और बतायी गयी है। यदि लज्जा अथवा किसी अन्य कारण वश वह आमन्त्रण अस्वीकृत करे, तो प्रथम उसे द्रव्यादि से प्रलोभित करे, पुनः दण्ड द्वारा, विविध भाँति की युक्तियों द्वारा स्वीकृत करावे। आवश्यक होने पर बलात्कार का भी प्रयोग करे। हठवश उपमन्त्रण अस्वीकृत करने पर उसे अभिशाप दे दे। अभिशाप 'इन्द्रियेणते'[3] इत्यादि

---

१. आत्म प्रतिबिम्ब दर्शन दोष निवारक मन्त्र—मयि. तेज इन्द्रियं यशो द्रविण सुकृतम्।

२. "इन्द्रियेण ते यशसायश आददामि।"

३. "इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे।"

मन्त्र का आशय यह है कि "मैं इन्द्रियों द्वारा तेरे यश को लिये लेता हूँ।" ऐसे शाप से वह अयशस्विनी–वन्ध्या दुर्भगा–हो जाती है।

आमन्त्रण की स्वीकृति पर यश की स्थापना के कारण दम्पति अवश्य ही सन्तानवान् होते हैं। अतः आमन्त्रण स्वीकार होने पर अभिमृश्य कर्म करे। आनन सम्मिलन पूर्वक उभयेन्द्रियोन्द्रियै की करण करके इस 'अङ्गादङ्गात्संभवसि'* इत्यादि मन्त्र का जप करे। मंत्र का भाव यह है—"हे कामदेव! तुम मेरे शरीर के समस्त अङ्गों से प्रकट हो रहे हो। तुम पवित्र संकल्प से हृदय में प्रकट होते हो, तुम मेरे अङ्गों के पवित्र कसाय रस हो। तुम इस मेरी धर्मपत्नी को विषविद्धशर सदृश मदमाती बना दो।" इस मन्त्र के प्रभाव से वह हृदय से पुरुष के प्रति अनुरक्तवती बन जायगी।

अब प्रसङ्गानुसार भगवती श्रुति तीन बातों को और बतलाकर पुनः पुत्र मन्थ प्रकरण को बतावेगी। पहिली तो यह कि कोई परोपकारादि कर्म में निरत सदाचारी सन्तान न चाहे, तो उसे मन्त्र पूर्वक गर्भनिरोध कर देना चाहिये। दूसरी बात यह कि सन्तान चाहे, तो उसे किस मन्त्र से गर्भाधान करना चाहिये। तीसरी बात यह है, कि निज पत्नी से किसी प्रबल जार से सम्बन्ध हो जाय तो उसे अभिचार मन्त्रों द्वारा किस प्रकार अपने पथ से पृथक् कर देना चाहिये। इन तीनों मे से सर्व प्रथम पहिली बात को बताते हैं–पूर्वोक्त समस्त क्रियाओं को करते हुए श्वास को पूर्ण रूप से खींचकर 'इन्द्रियेण'※ मन्त्र द्वारा उसके रेतस् को ग्रहण कर ले।

---

* अङ्गादङ्गात्सं भवति हृदयादधि जायसे। स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धमिवमादयेमामम् मयि।

※ "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे।"

पुनः श्वास को छोड़ दे तो ऐसा करने से फिर वह कभी भी गर्भवती न होगी।

दूसरी बात जो गर्भ धारण करना चाहे, उसे पूर्वोक्त समस्त क्रियायें करके पहिले समस्त श्वास का परित्याग कर दे, फिर 'इन्द्रियेण ते'* इत्यादि मंत्र को पढ़ता हुआ छोड़ी हुई श्वाँस को फिर ग्रहण करे। ऐसा करने से वह अवश्य गर्भवती होगी।

तीसरी बात जार को शाप देने वाली अभिचार क्रिया है, कि वेदज्ञ श्रोत्रिय की पत्नी से किसी बलवान् जार से सम्बन्ध हो जाय, तो उस द्वेषी उपपति के लिये यह उपाय करे। प्रथम मिट्टी के किसी कच्चे पात्र में पञ्च भू संस्कार पूर्वक अग्नि की स्थापना करे। विपरीत कर्म से अर्थात् सरकंडों के कुशों को दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र बिछाकर, उनकी वाणाकार सींकों को घृत में भिगोकर, उनके अग्र भाग को विपरीत करके उस मिट्टी के पात्र में स्थापित अग्नि मे चार आहुतियाँ इन मन्त्रों से दे। +

इस प्रकार जो ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जिस जार कर्म में प्रवृत्त दुराचारी पुरुष को शाप दे देता है, वह दुष्ट निश्चय ही इन्द्रियों से रहित पुण्य हीन होकर इस लोक से प्रस्थान कर जाता है।

---

* "इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि।"

+ १ प्रथम आहुति का मन्त्र—'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति।' फट्।

२. दूसरी आहुति का मन्त्र—'मम समिद्धेऽहौषी. प्राणापानौ त आददेऽसाविति।' फट्।

३ तीसरी आहुति—'मम समिद्धेऽहौषीः पुत्र पशूंस्त आददेऽसाविति।' फट्।

४. चौथी आहुति—'मम समिद्धेऽहौषी रिष्टा सुकृते त आददेऽसाविति।' फट्।

इसलिये श्रुति सबको सावधान करती हुई आज्ञा देती है, कि श्रोत्रिय वेदज्ञ ब्राह्मण की धर्मपत्नी के साथ कभी भूलकर भी अनुचित सम्बन्ध न करे। क्योंकि जो वेदज्ञ है और अभिचार कर्म का भी विशेषज्ञ है, वह जार पुरुष का शत्रु बन जाता है, और उसके द्वारा व्यभिचारी जार पुरुष का अनिष्ट हो जाता है।

प्रसङ्ग वश इन तीनों बातों को बताकर ऋतुस्नाता के नियमों को बताते हैं, और गर्भाधान के पूर्व क्या भोजन करना चाहिये इसके भी नियमों को बताते हैं जिस स्त्री को उचित समय में, योग्य अवस्था में ऋतुधर्म होता है, वह समस्त स्त्रियों में श्रेष्ठ है। रजोदर्शन के पश्चात् तीन दिनों तक उसे कास के पात्र में भोजन न करना चाहिये। लोहे आदि के वर्तन में भोजन करे। वृषल वृषली का स्पर्श न करना चाहिये। चौथे दिन शुद्ध होकर स्नान करके सुन्दर स्वच्छ वस्त्रों को धारण करके चरु के निमित्त अपने ही हाथों से धान कूटने चाहिये। धान कूटकर भिन्न-भिन्न इच्छा वाले दम्पत्ति को भिन्न भिन्न प्रकार के चरु (खीर) को बनाना चाहिये।

जिस दम्पत्ति की इच्छा हो, कि मेरा पुत्र गौर वर्ण का हो, एक वेद का वक्ता हो, तथा पूर्ण आयु–सौ वर्षों तक जीवित रहने वाला हो, तो दूध चावल की खीर बनवाकर घृत के सहित दोनों को ही उसी का भोजन करना चाहिये। ऐसे शुद्ध सात्त्विक आहार करके जो गर्भाधान कर्म में प्रवृत्त होते हैं, वे अवश्य ही विद्वान् तथा शतायु पुत्र को जन्म देते हैं।

जिस दम्पत्ति का इच्छा हो, कि हमारा पुत्र कपिल, पिङ्गल–वानर के रंग के सदृश रंग वाला, दो वेदों का ज्ञाता तथा -वाला हो, वो भात बनवाकर दही के साथ उस

दोनों को खाना चाहिये, तब वे अवश्य ही ऐसे पुत्र को जन्म देने में समर्थ होंगे।

जिनकी इच्छा हो कि हमारा पुत्र श्याम वर्ण का, बड़ी बड़ी लाल लाल आँखों वाला, तीनों वेदों का ज्ञाता, सौ वर्ष तक जीवित रहने वाला हो, तो उदौदन–जल में बने भात–को केवल घृत मिलाकर भोजन करना चाहिये, ऐसे करने से वे अवश्य ही ऐसा मन चाहा पुत्र पैदा करने में समर्थ हो सकेंगे।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! श्रुति लड़कों की ही युक्ति बताती है, किसी की इच्छा लड़की पैदा करने की हो, तो उसे गर्भाधान के पूर्व क्या भोजन करना चाहिये?"

सूतजी बोले—"भगवन्! श्रुति ने लड़की के लिये भी बताया है, जिसकी इच्छा यह है कि मेरी लड़की लौकिक विषय की पूर्ण पंडिता हो और वह पूर्ण आयु शत वर्ष तक जीने वाली हो, तो उसे अपनी पत्नी से तिल और चावल की खिचड़ी बनवाकर, उसमें गोघृत मिलाकर दोनों को भोजन करना चाहिये। इस तिलौदन के भोजन से अवश्य ही लौकिक विषय में निपुण, शत वर्ष आयु वाली कन्या को उत्पन्न करने में वे समर्थ होगे।"

जिनकी इच्छा हो, मेरा पुत्र पंडित हो, शास्त्रार्थ में सबको जीतने वाला, वेदवादियों की समिति में जाने वाला, श्रुत मधुर वाणी बोलने वाला हो, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करने वाला तथा सौ वर्षों तक जीने वाला हो तो मांसौदन को अपनी पत्नी से बनवाकर उक्षन अथवा ऋषभ के गूदे के साथ घृत मिलाकर दोनों को भोजन करना चाहिये। इससे वे दोनों जैसा पुत्र चाहते हैं, वैसा ही पुत्र होगा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जो मांस नहीं खाते उनके लिये मांसौदन का अर्थ क्या होगा?"

सूतजी ने कहा—"वहाँ वे मांस शब्द का अर्थ फलों का गूदा करते हैं, और उक्षन्, ऋषभ का अर्थ इसी नाम की दो आयुर्वेद की ओषधि लगाते हैं। माष शब्द का उड़द अर्थ है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! माष शब्द का अर्थ तो उड़द है ही, किन्तु यहाँ मांस में दन्ती सकार है। मांस शब्द का अर्थ उड़द कदापि नहीं हो सकता।"

सूतजी ने कहा—"ओषधि के गूदे को तो मांस कहते ही हैं। उड़द ओषधि ही तो है, उसका गूदा धोई हुई उड़द की दाल माष का मांस-गूदा-है। और उक्षन् और ऋषभ ये सोम तथा अष्टवर्ग की ओषधियाँ हैं।❀

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! उक्षन्, और ऋषभ इन दोनों को तो ओषधि मानते ही हैं, किन्तु मांस शब्द का तो प्रयोग सदा जीव धारी प्राणियों के मांस के ही अर्थ में होता है। फल के गूदे का व्यवहार तो कहीं भी मांस के अर्थ में नहीं होता ? यह तो धींगामुस्ती है। अर्थ का अनर्थ करना है।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! फल के गूदे के अर्थ में मांस शब्द का प्रयोग अवश्य होता है। वैद्यक के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सुश्रुत में आम के फल के सम्बन्ध में स्पष्ट बताया है-आम का फल जब पक जाता है तो उसमें केशर, मांस, हड्डी, मज्जा पृथक् पृथक् दृष्टिगोचर होते हैं।* यहाँ आम के गूदे को मांस, उसके ऊपर के रंग को केशर, गुठली को हड्डी और गुठली के ऊपर चिपके

❀ जीवकर्षभकौ मेदा महामेदा काकोली क्षीर काकोली मुद्गमाषपर्ण्यौ जीवन्ती मधुकमिति दशेमानि जीव नीयानि भवन्ति (चरक० सू० सू० ४, १३)

* चूतफले पक्वे केशरमांसास्थिमज्जान पृथक्-पृथक् दृश्यन्ते। (सुश्रुत० सू० अ० ३-३२)

रस को मज्जा कहा है। गाजर के भीतर जो कड़ी सी लकड़ी निकलती है, उसे व्यवहार में गाजर की हड्डी ही कहते हैं। बेल के छिकले को खोपड़ी और उसमें सटे हुए को मज्जा कहते हैं। जो मांसाहारी हैं, वे मांस का मांस ही अर्थ करें तो करते रहें। अपनी-अपनी भावना है।

इस प्रकार गर्भाधान के प्रथम पाक सामग्री और उसके बनाने की विधि बताकर अब हवन विधि बताते हैं। क्योंकि शास्त्रों में अपने निमित्त पाक बनाना पाप बताया है। जो देवता पितरादि को भोग लगाये बिना खा लेता है, वह पाप को ही खाता है। पाक को बनाकर उसका अग्नि में हवन करके हुतशेष अन्न को ही प्रसाद रूप में पाना चाहिये। कैसे हवन करे इसकी विधि बताते हैं—

गर्भाधान के दिन प्रातःकाल नित्य कर्मों से निवृत्त होकर स्थालीपाक विधि से बटलोही में चरु को बनवाना चाहिये। फिर घृत का संस्कार करके उस चरु की (१) अग्नि के लिये, (२) अनुमति के लिये, (३) सविता देवता के लिये तीन आहुतियाँ अग्नि में देनी चाहिये।*

इस प्रकार होम समाप्त करके चरु के शेष भाग को स्वयं भोजन करे। अवशिष्ट भाग को पत्नी को भोजन के निमित्त प्रदान करे। भोजनोपरान्त हाथ धोकर, जल का कलश भरकर पत्नी का उस कलश के जल से अभिषेचन-अभ्युत्तण-'उत्तिष्ठातो'‡

---

* पहिली आहुति का मन्त्र १—अग्नये स्वाहा।
दूसरी आहुति का मन्त्र २—अनुमतये स्वाहा।
तीसरी आहुति का मन्त्र ३—देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा।

‡ प्रक्षालन मन्त्र—उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह।

इत्यादि मंत्र से करे। इस मंत्र का भाव यह है कि—"हे विश्वावसो! उठो, दूसरी पति के साथ क्रीड़ा करती हुई जाया के समीप जाओ। मैं अपनी पत्नी को पुत्रोत्पत्ति के निमित्त प्राप्त करता हूँ।"

यह तो दिन कृत्य हो गया। रात्रि मे धर्मपत्नी को बुलाकर 'अमोऽहमास्मि'[1] इत्यादि मंत्र से संरम्भ करे। इस मंत्र का भाव यह है-"मैं अमप्राण हूँ। तुम वाणी हो। तुम वाणी हो, मैं प्राण हूँ। मैं सामवेद हूँ, तुम ऋक्वेद हो। मैं आकाश हूँ, तुम पृथ्वी हो। आओ हम दोनों दम्पत्ति परस्पर में संरम्भ करें। पुरुषत्व विशिष्ट पुत्र की प्राप्ति के निमित्त हम दोनों परस्पर मिलकर गर्भाधान करें।"

तदनन्तर ऊरु विहापन कर्म 'विजिहीथां'[2] इत्यादि मंत्र से करे। इस मंत्र का भाव यह है—"हे आकाश और पृथ्वी तुम दोनों पृथक् होओ।"

तदनन्तर निह्नापन कर्म आनन संमिलन पूर्वक करके 'विष्णुर्योनिं'[3] इत्यादि मंत्र से अनुलोम क्रम से केशादि पादांत समस्त अंग हाथ से तीन वार मार्जन करे। इस मार्जन मंत्र का भाव यह है—भगवान् विष्णु तुम्हारी प्रजनन स्थली को आधान के

---

१ संरम्भ मन्त्र—

"अमोऽहमास्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यो-रहं पृथ्वी त्वं तावेहि संरभाव है सह रेतो दधावहै पुंसे पुत्राय वित्तये।"

२. ऊरु विहपन मन्त्र—"विजिहीथां द्यावापृथ्वी।"

३. मार्जन मन्त्र—विष्णुर्योनिं कल्पयन्तु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आसिञ्चतु प्रजापति र्धाता गर्भं दधातु ते गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्ता पुष्करस्रजौ॥

समर्थ बनावें। त्वष्टा—आदित्य भगवान्—तुम्हारे रूप को दर्शनीय सुन्दर बनावें। प्रजापति देव तुम्हारे तन को आसिंचन करें। धाता—नक्षत्र—तुम्हारे गर्भ को धारण पोषण करें। हे शिनिवालि! तुम गर्भ को धारण करो। हे बहुस्तुते प्रिये! तुम गर्भ को धारण करो। कमल का माला पहिने दोनों अश्विनीकुमार देव तुम्हारे गर्भ को भली-भाँति धारण पोषण करें।"

फिर 'हिरण्मयी'* इत्यादि मंत्र का उच्चारण करे। इस मंत्र का भाव यह है कि—"हिरण्मयी दो अरणियाँ थीं, अश्विनी कुमारों ने उन दोनों को मथकर जिसे प्रकट किया उस गर्भ को तुझमें दशवें मास में सन्तान होने के निमित्त स्थापित करते हैं। जैसे पृथ्वी अग्नि से गर्भवती है, जैसे आकाश इन्द्र से गर्भ धारण करता है, जैसे वायु दिशाओं का गर्भ है, वैसे इस गर्भ को तुझमें स्थापित करता हूँ। इस अमुक नाम वाली देवी में।""

सूतजी कह रहे हैं— "मुनियो! इस प्रकार यह गर्भाधान प्रकरण समाप्त हुआ। अब जब गर्भ शनैः-शनैः बढ़ते-बढ़ते दशम मास में प्रसव काल आ जाय और पत्नी को प्रसव पीड़ा होने लगे, तब प्रसवान्मुखी भार्या को 'यथा वायु'* इत्यादि मंत्र को पढ़ते

* मन्त्र — हिरण्मयी अरणी याभ्या निर्मन्थताश्विनौ।
त ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये॥
यथाग्निगर्भा पृथ्वी यथा द्यौ रिन्द्रेण गर्भिणी।
वायुर्दिशा यथा गर्भ एव गर्भं दधामिते॥
'असौ—इति'

* यथा वायु पुष्करिणी समिङ्गयति सवत।
एवा ते गर्भ एजतु सहावै तु जरायुणा॥
इन्द्रस्याय व्रजं कृतं सार्गल सपरिश्रयः।
तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावरां सह॥

हुए जल से उसका अभिषेचन करे। इस मन्त्र का भाव यह है कि—"जैसे वायु पुष्करिणी को चारों ओर से चंचल कर देते हैं, वैसे ही तुम्हारा गर्भ अपने स्थान से चलायमान हो जाय। गर्भ-वेष्टन–जरायु–के साथ बाहर निकल आवे। इन्द्र रूप जीवात्मा के लिये यह मार्ग अर्गला के सहित चारों ओर वेष्टन के सदृश बनाया है। हे इन्द्ररूप जीवात्मन्! उस मार्ग से तू बाहर निकल आ। गर्भ के साथ मास पेशी को भी बाहर निकालो। इस मन्त्र से अभिषेचन करने से गर्भ सुख पूर्वक बाहर हो जायगा सुख पूर्वक प्रसव कार्य सम्पन्न हो जायगा।

अब जब बालक उत्पन्न हो जाय, तब जातकर्म संस्कार करे। पहिले जाकर जहाँ पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसके समीप में ही वेदी बनाकर अग्नि की स्थापना करे। फिर पुत्र को गोदी में लिटा ले। कांसे के कमनीय कटोरे में दधि और घृत को भली-भाँति मिला ले। उस दही मिश्रित घृत का थोड़ा-थोड़ा अंश लेकर 'अस्मिन्'※ इत्यादि मंत्रों से अग्नि में होम करे। तीन आहुतियाँ दे। पहिली आहुति के मंत्र का भाव यह है कि—"इस मेरे अपने गृह में ही उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त हुआ मैं सहस्रों पुरुषों को पालन पोषण करने वाला होऊँ। तथा इस मेरे अभी उत्पन्न हुए पुत्र के घर में सन्तति तथा पशुओं का उच्छेद न हो।

※ जात कर्म की तीनों आहुतियों के तीन मन्त्र—

१. अस्मिन् सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे।
अस्योपसन्द्यां मास्च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च ॥ स्वाहा ॥

२. मयि प्राणांस्त्वयि मनसा जुहोमि ॥ स्वाहा ॥

३. यत् कर्मणा ऽत्यरीरिचं यद् वा न्यूनमिहाकरम्।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद् विद्वान् सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु नः ॥ स्वाहा ॥

अर्थात् उपयोगी पशु तथा वंशानुक्रम से संतति सदा बढ़ती ही रहे।" स्वाहा ऐसा कहकर प्रथम आहुति दे।

अब दूसरी आहुति के मन्त्र का भाव बताते हैं—"मैं, जो तेरा पिता हूँ उसमें जो प्राण हैं, उन प्राणों को, तुझ पुत्र में मन से अर्पण कर रहा हूँ, होम रहा हूँ।" स्वाहा कहकर दूसरी आहुति को दे।

अब तीसरी आहुति के मंत्र का भाव कहते हैं—"कर्मों के द्वारा जो मैंने अत्यधिक कर्म किये हैं। तथा इहलौकिक कर्मों में जो मैंने न्यूनाधिक कर्म किये हैं, उन कर्मों को स्विष्टकृत विद्वान् जो अग्निदेव हैं वे हमारे उन समस्त न्यूनाधिक कर्मों को स्विष्ट और सुहुत कर दें।" स्वाहा कहकर तीसरी आहुति दे।

जब हवन हो जाय, तब इस नवजात बालक के दक्षिण कर्ण के समीप अपने मुख को ले जाकर उसके कान में 'वाक् वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। इसके अनन्तर हवन करने से बचे हुए दधि मिश्रित घृत में जो कि कांसे के कटोरे में रखा था, उसमें शहद मिलाकर उस दधि, घृत और शहद मिले पदार्थ को अव्यवहित सुवर्ण की चम्मच से चार व्याहृति युक्त मंत्रों से* चार चार थोड़ा थोड़ा बालक को चटावे। पहिले मन्त्र का भाव यह है—"मैं तुझमें भूलोक की स्थापना करता हूँ।" दूसरी—"मैं तुझमें भुवलोक की स्थापना करता हूँ।" तीसरी—मैं तुममें

* चार व्याहृतियों से चार चटाने के मन्त्र—

१. भूस्ते दधामि।

२. भुवस्ते दधामि।

३. स्वस्ते दधामि।

४. भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि। इति—

स्वर्गलोक की स्थापना करता हूँ।" चौथी—"मैं तुझमें भू, भुव और स्वर्गलोक सभी की स्थापना करता हूँ।"

जात कर्म संस्कार करने के अनन्तर नवजात शिशु का नाम करे। उसके कान में कहे—"तू वेद है।" ऐसा नाम करे। क्योंकि बालक का वेद यह ही उसका अत्यन्त गोपनीय नाम है। नक्षत्र के अनुसार नामकरण संस्कार तो फिर दशवें दिन अथवा एक मास के पश्चात् होगा।

गुह्य नामकरण के पश्चात् बच्चे को स्तन पान करावे। अपनी गोद से बालक को उठाकर माता की गोद में देकर 'इलासि'* इत्यादि मंत्र से बच्चे को स्तन पिलाने को माता से कहे और सरस्वती से प्रार्थना करे। मंत्र का भाव यह है—"हे सरस्वति! तुम्हारा यह जो पयोधर है, दुग्ध का भंडार है, यह जो पयोधर है, वह पोषण का भंडार है, यह रत्नों की खान है। वसुविद् है, उदार दानी है। इसी स्तन से समस्त वरणीय पदार्थों को तुम पोषण करती हो। तुम इसके जीवन धारणार्थ मेरी भार्या में प्रविष्ट कर दो।"

माता जब पुत्र को स्तन पान कराने लगे, तब पिता पवित्र जल लेकर उस जल से 'इलासि'* इत्यादि मंत्र को पढ़ता हुआ

---

* स्तनपान का मन्त्र—

यस्त स्तनः शशयो यो मयो भूर्योरत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेकः। इति।

* इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्।
सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकर दिति॥
तं वा एतमाहुरति पिता बताभूरति पितामहो बताभूः।
परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन
य एवं विदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायते॥ इति।

उस अपनी धर्मपत्नी को अभिमन्त्रित करे। मन्त्र का भाव यह है—"हे देवि ! तुम इलाहो मैत्रावरुणी–अरुन्धती–हो। हे वीरे! तुमने वीर ही पुत्र को उत्पन्न किया है। तुम वीरवती होओ। जिस तुमने हमें वीर पुत्र का पिता बनाया है, इस पुत्र को देखकर लोग कहते हैं "हे पुत्र तू गुणों में अपने पिता से भी बढ़कर, उन्हें अतिक्रमण करके अत्यंत गुणशाली हो। यही नहीं तू अपने पितामह से भी गुणों में श्रेष्ठ हो। सम्पत्ति से, यश से, ब्रह्मचर्य से परमकाष्ठा को पहुँचे।"

इस प्रकार जो विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मण के पुत्र उत्पन्न होता है, उस पुत्र के द्वारा पिता भी स्तुत्य हुआ करता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह पुत्रमन्थ कर्म समाप्त हुआ। ब्राह्मणो ! आप भी इससे अनभिज्ञ हैं और मैं भी अल्पमति अनभिज्ञ हूँ,अतः इसके कथन में जो भी त्रुटि रह गयी हो, उसे भगवती श्रुति अल्पज्ञ समझकर क्षमा प्रदान करें। अब आगे इस समस्त प्रवचन का वंश बताकर यह वृहदारण्यक उपनिषद् समाप्त हो जायगी। यह जो पीछे कही हुई विद्या किस परम्परा से आई है, उसका वर्णन किया जायगा। यह शिष्टों का आचार है, जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो उनके नाम का बार बार उच्चारण करना चाहिये. जैसे बार-बार एक ही मंगलाचरण के मन्त्रों को नित्य कहते हैं। इसमें पुनरावृत्ति दोष नहीं। आचार्यों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही इसका अभिप्राय है।"

छप्पय

(१)

शुक्र व्यरथ नहिँ जाइ प्रजापति नारि बनायी।
करै उपासन अधो-भाग जाया-सुखदायी॥
बाजपेय मख सरिस परम मैथुन बतलायौ।
आरुणि अरु मौद्गल्य आदि ऋषि तिहि समुझायौ॥
दुष्ट भाव अनुकूल नहिँ, होवै पति जब नारि तब।
यश ताको मन्त्रनि हरै, बनि बन्ध्या रहि उमर सब॥

(२)

चाहै सन्तति नहीं निरोधहु करै गरभ को।
सन्तति चाहै पुरुष मन्त्र पढ़ि छोड़ि स्वाँस को॥
लगि जावै यदि जार करै अभिचार मारि तिहि।
तातैं कबहूँ भूलि नारि श्रोत्रिय सेवै नहिँ॥
शुक्ल वेदविद् आयुशत, सुत चाहै घृत खीरि भखि।
कपिल द्विवेदी आयुशत, सुत हित दध्यौदनहि मखि॥

(३)

होइ पंडिता पुत्रि आयुशत खाइ तिलौदन।
चतुर्वेद विद कृष्ण बरन सुत जयी तपोधन॥
माषौदन की खिचरि ताहि घृत सहित पकावै।
उक्षा ऋषभ मिलाइ महौषधि के सँग खावै॥
यालौ पाक बनाइकैं, तीनि आहुती प्रथम दै।
शेष चरुहिँ भोजन करै, देइ पत्नि कूँ जो बचै॥

(४)

पुनि तिहि निकट बुलाइ, शयासन निशिहिँ सुवावै ।
ऊरू उभय हटाइ उभय आननहिँ मिलावै ॥
विधिवत गरभाधान करैं मन्त्रनिकूँ पढ़िकैं ।
पुनि जब होवे प्रसव नीर तैं प्रोक्षण करिकैं ॥
होइ पुत्र तब जाइकें, जात करम विधिवत करै ।
दधि, मधु, घृतहिँ चटाइकें, कान वाग बागहिँ भरै ॥

(५)

फेरि गुह्य यह वेद नाम करि गोद उठावै ।
दै माता की गोद पयोधर जननि पियावै ॥
इस्तुति भगवति करै दूध जननी बहु होवै ।
पालन पोषन करै रहै सुत सुखतैं सोवै ॥
पिता पितामह तैं अधिक, होइ यशस्वी वीर सुत ।
यों विधिवत करि मन्त्र सुत, होइ ब्रह्मविद योगयुत ॥

—o—

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
पुत्रमथ नामक पञ्चम ब्राह्मण समाप्त ।

समस्त प्रवचन-वंश वर्णन

(२६८)

पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद् गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्‌… ॥*

(बृ० उ० ६ अ० ५ ब्रा० १…मन्त्रांश)

छप्पय

बृहदारण्यक वृहद कही उपनिषद गुह्यतम।
जो कछु त्रुटि रहि गयी करैं विनती मिलि हमतुम॥
श्रुति भगवति सो क्षमा करैं अपराध हमारो।
प्रवचन सबको वंश अन्त में मिलि उच्चारो॥
पौतिमास सुत तें प्रथम, अन्त ब्रह्म में ह्वा रह्यौ।
यों समस्त ह्वीं वंश ऋषि, ग्रन्थ अन्त में श्रुति कह्यौ॥

ग्रन्थ की समाप्ति पर गुरु परम्परा का स्मरण करने की प्राचीन प्रणाली है। जो ज्ञान सम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त होता है, वह प्रमाणिक माना जाता है। वंश दो प्रकार का होता है, नाद-वंश और विन्दुवंश। प्राचीन काल में प्रायः पिता ही पुत्र को उपदेश देते थे। अतः नाद और विन्दु दोनों ही वंश सम्मिलित होते थे। कहा कहीं पिता अपने पुत्र को दूसरे आचार्य के पास शिक्षा के लिये भेजा करते थे, वहाँ नादवंश और विन्दुवंश पृथक् पृथक् हो जाते थे। विशेषता नादवंश की है। यह ब्रह्म-विद्या किस आचार्य से किस शिष्य ने प्राप्त की।

---

* अब अन्त में समस्त प्रवचन के वंश का वर्णन किया जाता है। पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से यह विद्या प्राप्त की। कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से प्राप्त की।……

इस समय प्रकरण पुत्रमन्थ का चल रहा था। पुत्र प्राप्ति में माता को ही प्रधानता दी गयी है और इस प्रकरण में सर्वत्र माता की ही प्रशंसा की गयी है, अतः यहाँ आचार्य परम्परा में माता के ही साथ आचार्य परम्परा का वर्णन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! बृहदारण्यक उपनिषद् तो समाप्त हो गयी। अब इस बृहदारण्यक में कही हुई समस्त विद्या को किस आचार्य ने किससे कहा, इस प्रकरण को शिष्टाचार के अनुसार कहकर इस उपनिषद् को पूर्ण करेंगे। माता के ही नाम से आचार्य का उल्लेख किया गया है।

इस आत्मविद्या को किसने किस आचार्य से प्राप्त किया इसे बताते हैं। १–पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, २–कात्यायनी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, ३–इन्होंने भारद्वाजी पुत्र से, ४–भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, ५–इन्होंने औपस्वस्ती पुत्र से, ६–औपस्वस्ती पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, ७–इन्होने कात्यायनी पुत्र से, ८–कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी पुत्र से, ९–कौशिकी पुत्र ने आलम्बी से, १०–इन्होंने वैयाघ्रपदी पुत्र से, ११–वैयाघ्रपदी पुत्र ने काण्वी पुत्र से, १२–तथा कपी पुत्र से इस विद्या को प्राप्त किया।

१३–कपी पुत्र ने आत्रेयी पुत्र से, १४–आत्रेयी पुत्र ने गौतमी पुत्र से, १५–इन्होंने भारद्वाजी पुत्र से, १६–भारद्वाजी पुत्र ने, भारद्वाजी ही पुत्र से, १७–इन्होंने पाराशरी पुत्र से, १८–पाराशरी पुत्र ने वात्सी पुत्र से, १९–इन्होंने पाराशरी पुत्र से, २०–, पाराशरी पुत्र ने वार्कारुणी पुत्र से, २१–इन्होंने वार्कारुणी पुत्र से–हाँ,' २२–वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, २३–इन्होंने शौङ्गी पुत्र से, २४–शौङ्गी पुत्र ने सांकृती पुत्र से, २५–इन्होंने आलम्बायनी पुत्र से, २६–आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी पुत्र

से, २७-इन्होंने जायन्ती पुत्र से, २८-जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, २९-माण्डूकायनी पुत्र ने शांडिली पुत्र से, ३०-इन्होंने राथीतरी पुत्र से, ३१-राथीतरी पुत्र ने भालुकी पुत्र से, ३२-इन्होंने क्रौञ्चिकी पुत्र से, ३३-क्रौञ्चिकी पुत्र ने वैदभृती पुत्र से, ३४-इन्होंने प्राचीनयोगी पुत्र से, ३५-प्राचीनयोगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, ३६-इन्होंने प्राश्नी पुत्र से, ३७-प्राश्नी पुत्र ने आसुरायण से, ३८ इन्होंने आसुरि से, ३९-आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, ४०-इन्होंने उद्दालक से, ४१-उद्दालक ने अरुण से, ४२-अरुण ने उपवेशि से, ४३-इन्होंने कुश्रि से, ४४-कुश्रि ने वाजश्रवा से, ४५-वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, ४६-जिह्वावान बाध्योग ने असितवार्षगण से, ४७-असितवार्षगण ने हरितकश्यप से, ४८-हरितकश्यप ने शिल्पकश्यप से, ४९-शिल्पकश्यप ने कश्यपनैध्रुवि से, ५०-कश्यपनैध्रुवि ने वाक् से, ५१-वाक् ने अम्भिण्य से, ५२-अम्भिण्य ने आदित्य से, ५३-आदित्य से प्राप्त हुईं ये शुक्ल यजुर्वेद की श्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा संसार में प्रसिद्ध हुईं।

साञ्जीवी पुत्र पर्यन्त तो यह एक ही वंश है। अब दूसरी शाखा यह है-साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, मांडूकायनि ने मांडव्य से, मांडव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शांडिल्य से, शांडिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रियज्ञवर्चा ने राजस्तम्बायन से, यज्ञवचाराजस्तम्बायन ने तुरकावषेय से, तुरकावषेय ने प्रजापति से और प्रजापति ने ब्रह्म से यह विद्या प्राप्त की। परब्रह्म परमात्मा तो स्वयम्भू ही हैं। उन्होंने किसी से भी इसे प्राप्त नहीं किया। वे तो समस्त विद्याओं के उद्गम हैं। अतः उन परब्रह्म स्वयम्भू परब्रह्म को नमस्कार करके इस बृहदारण्यक उपनिषद्

को समाप्त करते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार यह बृहदारण्यक उपनिषद् का जैसा कुछ बन सका, यथामति, यथाशक्ति आप सबसे अर्थ कहा। अब आगे अन्य उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में सार-सार आपके सन्मुख कहने का प्रयत्न करूँगा।

ॐशान्तिः! ॐशान्तिः!! ॐशान्तिः!!!

छप्पय

(१)

सब विद्यनि की खानि ब्रह्म प्रभु प्रनमों पुनि पुनि।
पाइ प्रजापति ज्ञान दयो तिनि सबई ऋषि मुनि॥
कावपेयतुर आदि सुविद्या ब्रजतें पाई।
यों परम्परा प्राप्त जगत में विद्या आई॥
अति समास श्रद्धा सहित, वंश वृक्ष ऋषि मुनि कह्यो।
बृहदारण्यक ग्रन्थ अरु, वंश वृक्ष पूरो भयो॥

(२)

भक्ति उपासन एक वेद तिहि कहें उपासन।
भक्ति ताहि कूँ कहें पुरानिनि सकल सनातन॥
भक्ति ब्रह्म की शक्ति मुक्ति तिहि की है दासी।
भक्ति हिये महँ बसै मुक्ति तहँ करति खवासी॥
भक्ति स्रोत हिय में फुटै, परिप्लावित हो हृदय बन।
भक्ति सरस सुन्दर सुखद, भक्तिरत्न दें प्रेमघन॥

इति बृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय में
पंचम वंश ब्राह्मण समाप्त।

इति बृहदारण्यक उपनिषद् समाप्त